विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक ११ नवम्बर २००१ मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

कुछ लोग जन्मजात महान होते हैं ...
और कुछ अपने कार्यों से महान बनते हैं ॥
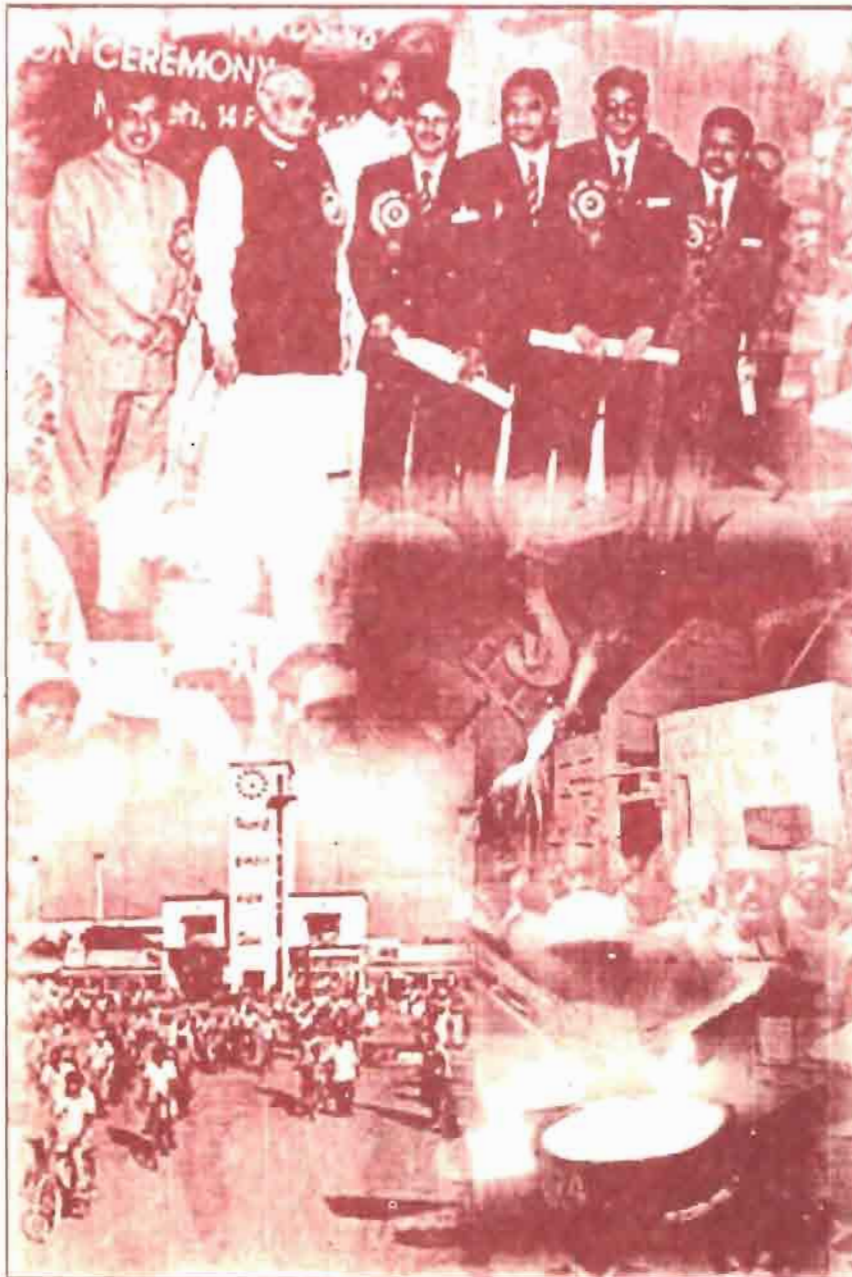
- देश के श्रमिकों के लिये सर्वोच्च पुरस्कार श्रम रत्न पुरस्कार के नौ विजेताओं में आठ भिलाई में कार्यरत हैं।
- भिलाई के श्रेष्ठतम औद्योगिक संबंध वाले माहौल का यह बेहतरीन उदाहरण है कि पिछले एक दशक से यहाँ औद्योगिक संबंधों से जुड़े मुद्दे पर एक भी कार्य दिवस की हानि नहीं हुई।
- भिलाई के इस्पात कर्मियों ने पिछले सात वर्षों में छः बार भारतीय राष्ट्रीय सुझाव योजना एसोसियेशन (इनसान) का पुरस्कार जीता है।
- भिलाई की सभी प्रमुख उत्पादक इकाइयों को आई एस ओ-9002 प्रमाणपत्र प्राप्त हो चुका है।
- भिलाई पाँच वर्षों में चार बार देश के सर्वश्रेष्ठ एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में प्रधानमंत्री ट्राफी भी जीत चुका है।

हम सर्वोत्तम इस्पात बनाते हैं...

हम सर्वोत्तम इस्पात कर्मी भी बनाते हैं।

हर किसी की जिंदगी से जुड़ा हुआ है सेल

स्टील अथॉरिटी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड

भिलाई इस्पात संयंत्र

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक ११

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. ७००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यो तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस सयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

वर्ष ३९ नवम्बर २००१ अंक ११

नीति-शतकम्

राजन् ! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ।।४६।।

अन्वयः – राजन् ! यदि एतां क्षितिधेनुं दुधुक्षसि (दोग्धुम् इच्छसि), तेन अद्य वत्सम् इव अमुं लोकं पुषाण । तस्मिन् च अनिशं सम्यक् परिपोष्यमाणे भूमिः कल्पलता इव नानाफलैः फलति ।

भावार्थ – हे राजा, यदि तुम इस वसुन्धरा के रत्नों का दोहन करना चाहते हो, तो अपनी प्रजा का बछड़े के समान पोषण करो; (क्योंकि) प्रजा का निरन्तर भलीभाँति पोषण होने से यह पृथ्वी कल्पलता के समान विभिन्न प्रकार के फल उत्पन्न करती है।

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा ।।४७।।

अन्वयः – वाराङ्गना इव अनेकरूपा नृपनीतिः – सत्या अनृता च, परुषा प्रियवादिनी च, हिंस्रा दयालुः अपि च, अर्थपरा वदान्या नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च ।

भावार्थ – राजनीति गणिका के समान अनेक रूपोंवाली है – कभी सत्य का सहारा लेती है, तो कभी झूठ का, कभी मधुर बोलती है तो कभी कठोर हो जाती है, कभी वह हिंसक हो उठती है तो कभी दया दिखाती है, कभी धनलोलुपता दिखाती है तो कभी अतीव उदार हो जाती है और कभी वह अत्यन्त खर्चीली हो जाती है तो कभी खूब धनोपार्जन करती है।

- भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(भैरव-चौताल)

रामकृष्ण रामकृष्ण रामकृष्ण जप रे मन,
नाश मोह शोक रोग, शीतल होवे जीवन ।।

सच्चिद्घन युग-ईश्वर, ज्योतिर्घन तनु सुन्दर,
करते लीला अवतर, मोहित जनगन त्रिभुवन ।।

अनुपम अति चारु चरण, दोष दुःख व्याधि हरण,
साधु सुजन लेत शरण, अर्पित कर तन-मन-धन ।।

नाम मधुर अमृतकण, ब्रह्मरूप पूत करण,
नर-नारी सुर मुनिगण, पान करत रत प्रतिक्षण ।।

– २ –

रामकृष्ण मलय पवन,
व्यापत जल-थल-त्रिभुवन,
दुःख निशा दूर भई,
हर्षित सब जन-गण-मन ।।

अति शीतल मधु-सुगन्ध,
बहत वायु मन्द मन्द,
त्रिविध ताप करत नाश,
कुसुमित हैं वन उपवन ।।

पाकर मृदु स्नेह-स्पर्श, दूर सभी का विमर्ष,
जग का हो महोत्कर्ष, वृक्ष सकल हों चन्दन ।।

भीषण भवरोग ग्रस्त, प्राणीगण भीत त्रस्त,
पाकर यह पुण्य अस्त्र, टूटें हृदि के बन्धन ।।

आया अनुपम मौका, पार लगेगी नौका,
कृपा वायु लगने दे, मिट जायेंगे क्रन्दन ।।

– *विदेह*

व्यक्तित्व का विकास (७)

स्वामी विवेकानन्द

(व्यक्तित्व का विकास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है और आज के युग में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। मैसूर के रामकृष्ण आश्रम से स्वामीजी के व्यक्तित्व-निर्माण विषयक उक्तियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। उसी पुस्तिका के अनुवाद की यह अन्तिम कड़ी है। – सं.)

एकाग्रता की शक्ति

मनुष्य और पशु मे मुख्य अन्तर उनके मनों की एकाग्रता की शक्ति मे है। किसी भी प्रकार के कार्य में सारी सफलता इसी एकाग्रता का परिणाम है। प्रत्येक व्यक्ति एकाग्रता के बारे मे कुछ-न-कुछ जानता है। हम इसके परिणाम नित्य देखते है। कला, संगीत आदि में उच्च उपलब्धियाँ मन की एकाग्रता के परिणाम है। पशु मे मन की एकाग्रता की शक्ति बहुत कम होती है। जो लोग पशुओं को कुछ सिखाते हैं, उन्हें पता है कि पशु को जो बात सिखायी जाती है, उसे वह लगातार भूलता जाता है। वह एक बार में किसी एक वस्तु पर देर तक चित्त को एकाग्र नही रख सकता। मनुष्य और पशु में यही अन्तर है – मनुष्य में चित्त की एकाग्रता की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक है। एकाग्रता की शक्ति में अन्तर के कारण ही एक मनुष्य दूसरे से भिन्न होता है। छोटे-से-छोटे आदमी की तुलना ऊँचे-से-ऊँचे आदमी से करो। अन्तर मन की एकाग्रता की मात्रा मे होता है। बस, यही अन्तर है।

प्रत्येक व्यक्ति का मन कभी-न-कभी एकाग्र हो जाता है। जो चीजें हमे प्रिय होती हैं, उन पर हम मन लगाते हैं और जिन चीजो पर हम मन लगाते हैं, वे हमें प्रिय होती हैं। कौन ऐसी माता होगी, जो अपने कुरूप-से-कुरूप बच्चे के मुख से प्रेम न करती हो? उसके लिये वह मुखड़ा दुनिया में सुन्दरतम है। वह उससे प्रेम करती है, क्योंकि उस पर अपने मन को एकाग्र करती है और यदि सब लोग उसी चेहरे पर अपने मन को एकाग्र करे, तो सब उससे प्यार करने लगेंगे। सभी को वह चेहरा सुन्दरतम प्रतीत होने लगेगा। हम जिन्हें प्यार करते है, उन्ही चीजो पर अपना मन एकाग्र करते हैं।

ऐसी एकाग्रता में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि हम अपने मन को वश में नहीं करते; उल्टे उसी के वश में हम रहते हैं। मानो हमसे बाहर की कोई वस्तु मन को अपनी ओर खींच लेती है और जब तक चाहे पकड़े रहती है। सुरीली तान सुनने या सुन्दर चित्र देखने पर हमारा मन दृढ़तापूर्वक उसकी पकड़ मे आ जाता है। हम वहाँ से उसे हटा नहीं सकते।

यदि मै तुम्हारे पसन्द के विषय पर एक अच्छा व्याख्यान दूँ, तो तुम्हारा मन मेरे वक्तव्य पर एकाग्र हो जायेगा। तुम न चाहो, तो भी मै तुम्हारे मन को तुमसे बाहर निकाल करके उस विषय में जमा देता हूँ। इसी प्रकार हमारे न चाहते हुए भी हमारा ध्यान खिंच जाया करता है और हमारा मन विभिन्न वस्तुओं पर एकाग्र होता रहता है। हम इसे रोक नहीं सकते।

अब प्रश्न यह है कि क्या यह एकाग्रता विकसित की जा सकती है और क्या हम मन के स्वामी बन सकते हैं? योगियों का कहना है – हाँ। योगी कहते हैं कि हम मन पर पूर्ण नियंत्रण कर सकते हैं। मन की एकाग्रता बढ़ाने से नैतिक धरातल पर खतरा है और वह है किसी वस्तु पर मन एकाग्र कर लेना और फिर इच्छानुसार उससे हटा लेने में असमर्थ होना। इस अवस्था में बड़ा कष्ट होता है। हमारे प्राय: सभी क्लेशों का कारण हममें अनासक्ति की क्षमता का अभाव है। अत: मन की एकाग्रता की शक्ति के विकास के साथ साथ हमें अनासक्ति की क्षमता का भी विकास करना होगा। सब ओर से मन को हटाकर किसी एक वस्तु में उसे आसक्त करना ही नही, वरन् एक क्षण में उससे निकाल कर किसी अन्य वस्तु में लगाना भी हमें अवश्य सीखना चाहिये। इसे निरापद बनाने के लिए इन दोनों का अभ्यास एक साथ बढ़ाना चाहिए। यह मन का सुव्यवस्थित विकास है।

मेरे विचार से तो शिक्षा का सार तथ्यों का संकलन नहीं, बल्कि मन की एकाग्रता प्राप्त करना है। यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और इसमें मेरा वश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ। मैं मन की एकाग्रता और अनासक्ति की क्षमता करूँगा और उपकरण के पूरी तौर से तैयार हो जाने पर उससे अपनी इच्छानुसार तथ्यों का संकलन करूँगा। बच्चे में मन की एकाग्रता तथा अनासक्ति की सामर्थ्य एक साथ विकसित होनी चाहिए।[९२]

संसार का यह समस्त ज्ञान मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवा अन्य किस उपाय से प्राप्त हुआ है? यदि हमें केवल इतना ज्ञात हो कि प्रकृति के द्वार पर कैसे खटखटाना चाहिये – उस पर कैसे आघात देना चाहिये, तो बस, प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव-मन की शक्ति असीम है। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर केन्द्रित होती है; यही रहस्य है।[९३]

मन को प्रशिक्षित करने का श्रीगणेश श्वास-क्रिया से होता है। नियमित श्वास-प्रश्वास से शरीर की दशा सन्तुलित होती है और इससे मन तक पहुँचने में आसानी होती है। प्राणायाम का

अभ्यास करने में सबसे पहले आसन पर विचार किया जाता है। जिस आसन में कोई व्यक्ति देर तक सुखासीन रह सके, वही उसके लिए उपयुक्त आसन है। मेरुदण्ड उन्मुक्त रहे और शरीर का भार पसलियों पर पड़ना चाहिए। मन को वश में करने के लिए तरह तरह के उपायों का सहारा लेने का प्रयास मत करो; इसके लिए सहज श्वास-क्रिया ही यथेष्ट है।[९४]

समत्व भाव का विकास करो

किसी पर दया न करो। सबको अपने समान देखो। विषमता रूप आदिम पापों से स्वयं को मुक्त करो। हम सब समान हैं और हमें ऐसा नहीं सोचना चाहिये – "मैं भला हूँ, तुम बुरे हो और मैं तुम्हारे पुनरुद्धार का प्रयत्न कर रहा हूँ।" साम्य भाव मुक्त पुरुष का लक्षण है।

केवल पापी ही पाप देखता है। मनुष्य को न देखो, केवल प्रभु को देखो। हम स्वयं अपना स्वर्ग बनाते हैं और नरक में भी स्वर्ग बना सकते हैं। पापी केवल नरक में ही मिलते हैं, और जब तक हम उन्हें अपने चारों ओर देखते हैं – तब तक हम स्वयं भी नरक में होते हैं। आत्मा न तो काल में है और न स्थान में। अनुभव करो, मैं पूर्ण सत्, पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द हूँ – **सोऽहमस्मि, सोऽहमस्मि**।[९५]

मनुष्य को शिक्षा मिलनी ही चाहिये। आजकल जनतंत्र पर, मानव मात्र की समता पर चर्चा होती है। कोई व्यक्ति कैसे जान सकेगा कि वह सबके समान है। उसके पास एक सबल मस्तिष्क, निरर्थक विचारों से मुक्त निर्मल बुद्धि होनी चाहिये; उसे अपनी बुद्धि पर जमी अन्धविश्वासों की तहों को भेदकर उस विशुद्ध सत्य पर पहुँचना ही चाहिये, जो उसकी अन्तरतम में स्थित आत्मा है। तब उसे ज्ञात होगा कि सारी पूर्णता, सभी शक्तियाँ, स्वयं उसके भीतर पहले से ही मौजूद हैं, कोई दूसरा उसे प्रदान नही कर सकता। यह भलीभाँति अनुभव कर लेने पर वह तत्काल मुक्त हो जाता है, समता को प्राप्त कर लेता है। वह भलीभाँति यह भी अनुभव कर लेता है कि हर दूसरा व्यक्ति भी उसी के समान पूर्ण है और उसे अपने बन्धु-मानवों पर किसी तरह के – दैहिक, बौद्धिक या नैतिक – बलप्रयोग की जरूरत नहीं। वह इस विचार को सदा के लिए भुला देता है कि कभी कोई व्यक्ति उससे निम्नतर भी था। केवल तभी वह समता की बात कर सकता है, उसके पूर्व नहीं।[९६]

मुक्त बनो

यह अनुभव करना सीखो कि तुम्हीं अन्य सभी लोगों के शरीर में भी विद्यमान हो; यह समझने की चेष्टा करो कि हम सभी एक हैं और सभी व्यर्थ की चीजें त्याग दो। तुमने भला-बुरा जो कुछ भी किया है, उनके विषय में सोचना बिल्कुल बन्द कर दो – उन सबको 'थू' 'थू' करके उड़ा दो। जो कुछ कर चुके, सो कर चुके। अन्धविश्वासों को दूर कर दो। मृत्यु सामने आकर खड़ी हो जाय, तो भी दुर्बलता मत दिखाओ। अनुताप मत करो – पहले जो कुछ तुमने किया है, उसे लेकर माथापच्ची मत करो; इतना ही नहीं, बल्कि तुमने जो कुछ अच्छे काम भी किये हैं, उन्हें भी स्मृति-पथ से दूर हटा दो। आजाद बनो। दुर्बल, कापुरुष और अज्ञ व्यक्ति कभी भी आत्मलाभ नहीं कर सकते। तुम किसी भी कर्म के फल को नष्ट नहीं कर सकते – फल अवश्य ही प्राप्त होगा; अतः साहसी होकर उसके सामने डटे रहो, पर सावधान, दुबारा फिर वैसे कार्य मत करना। अपने अच्छे या बुरे सभी कर्मों का भार उन प्रभु के ऊपर डाल दो। अच्छा अपने लिए रखकर केवल खराब उसके सिर पर मत डालना। जो स्वयं अपनी सहायता नहीं करता, प्रभु उसी की सहायता करते हैं।[९७]

अनासक्ति का भाव आ जाने पर तुम्हारे लिये कुछ भी अच्छा या बुरा नही रह जायेगा। केवल स्वार्थपरता के कारण ही तुम्हें अच्छाई या बुराई दिख रही है। यह बात समझना बड़ा कठिन है, परन्तु धीरे-धीरे समझ सकोगे कि संसार की कोई भी वस्तु तुम्हारे ऊपर तब तक प्रभाव नहीं डाल सकती, जब तक कि तुम स्वयं ही उसे अपना प्रभाव न डालने दो। जब तक मनुष्य स्वयं किसी शक्ति के वश में न हो जाय और अपने को गिराकर मूर्ख न बना ले, तब तक उसकी आत्मा के ऊपर किसी का भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः अनासक्ति के द्वारा तुम किसी भी प्रकार की शक्ति पर विजय प्राप्त कर सकते हो और उसे अपने ऊपर प्रभाव डालने से रोक सकते हो। यह कह देना बडा सरल है कि जब तक तुम किसी चीज को अपने ऊपर प्रभाव न डालने दो, तब तक वह तुम्हारा कुछ नहीं कर सकती, पर जो सचमुच अपने ऊपर किसी का प्रभाव नहीं पड़ने देता और बहिर्जगत् के प्रभावों से जो सुखी या दुःखी नहीं होता, उसका लक्षण क्या है? लक्षण यह है कि सुख अथवा दुःख में उस मनुष्य का मन सदा एक-सा रहता है, सभी अवस्थाओं में उसकी मनोदशा समान रहती है।[९८]

जब हम समत्व की अद्भुत स्थिति में पहुँच जायेंगे अर्थात् साम्य भाव प्राप्त कर लेंगे, तब उन सभी वस्तुओं पर हमें हँसी आयेगी, जिन्हें हम दुःखों तथा बुराइयों का निमित्त कहते हैं। इसी को वेदान्त में मुक्तिलाभ कहा गया है। इसकी प्राप्ति का लक्षण यह है कि तब इस तरह के एकत्व तथा समत्व-भाव का अधिकाधिक बोध होगा। 'सुख-दुःख तथा जय-पराजय में सम'– इस प्रकार की मनःस्थिति मुक्तावस्था के निकट है।[९९]

जो इच्छा मात्र से अपने मन को केन्द्रों में लगाने या हटा लेने मे सफल हो गया है, उसी का प्रत्याहार सिद्ध हुआ है। प्रत्याहार का अर्थ है – 'उल्टी ओर आहरण' अर्थात् [illegible] – मन की बहिर्गति को रोककर, इन्द्रियों की अधीनता से मुक्त करके उसे भीतर की ओर खींचना। इसमें सफल होने पर हम यथार्थ में चरित्रवान होंगे; और केवल तभी समझेंगे कि हम

मुक्ति के मार्ग पर काफी दूर तक अग्रसर हो आये हैं। इससे पहले तो हम मशीन मात्र हैं।[१००]

ज्ञानी व्यक्ति स्वाधीन होना चाहता है। वह जानता है कि विषय-भोग निस्सार हैं और सुख-दु:खों का कोई अन्त नहीं है। दुनिया के असंख्य धनवान नये सुख ढूँढ़ने में लगे हैं; पर जो सुख उन्हें मिलते हैं, वे पुराने हो जाते हैं और वे नये सुख की कामना करते हैं। हम देखते है कि नाड़ियों को क्षण भर गुदगुदाने के लिये प्रतिदिन कैसे नये नये मूर्खतापूर्ण आविष्कार किये जा रहे हैं और उसके बाद कैसी 'प्रतिक्रिया' होती है? अधिकांश लोग तो भेड़ो के झुण्ड के समान हैं – यदि पहली गड्ढे मे गिरती है, तो पीछे की बाकी सब भेड़ें भी गिरकर अपनी गर्दन तोड़ लेती है। इसी तरह समाज का कोई मुखिया जब कोई बात कर बैठता है, दूसरे लोग भी बिना सोचे-समझे उसका अनुकरण करने लगते हैं। जब मनुष्य को ये संसारी बाते निस्सार प्रतीत होने लगती हैं, तब वह सोचता है कि उसे प्रकृति के हाथो मे इस प्रकार का खिलौना बनकर उसमें बहते नही रहना चाहिये। यह तो गुलामी है। यदि कोई दो-चार मीठी बाते सुनाये, तो आदमी मुस्कुराने लगता है और जब कोई कड़ी बात सुना देता है, तो उसके आँसू निकल आते हैं। वह रोटी के एक टुकड़े का, एक साँस भर हवा का दास है; वह कपड़े-लत्ते का, स्वदेश-प्रेम का, अपने देश और अपने नाम-यश का गुलाम है। इस तरह वह चारों ओर से गुलामी के बन्धनो में फँसा है और उसका यथार्थ पुरुषत्व इन बन्धनों के कारण उसके अन्दर गड़ा हुआ पड़ा है। जिसे तुम मनुष्य कहते हो, वह तो गुलाम है। जब मनुष्य को अपनी इन सारी गुलामियो का अनुभव होता है, तब उसके मन में स्वतंत्र होने की इच्छा – अदम्य इच्छा उत्पन्न होती है। यदि किसी मनुष्य के सिर पर दहकता हुआ अंगार रख दिया जाय, तो वह मनुष्य उसे दूर फेकने के लिये कैसा छटपटायेगा! ठीक इसी तरह वह मनुष्य, जिसने सचमुच यह समझ लिया है कि वह प्रकृति का गुलाम है, स्वतंत्रता पाने के लिये छटपटाता है।[१०१]

पहले मुक्त बनो और तब चाहे जितने व्यक्तित्व रखो। तब हम लोग रंगमंच पर उस अभिनेता के समान अभिनय करेंगे, जो भिखारी का अभिनय करता है। उसकी तुलना गलियों में भटकने वाले वास्तविक भिखारी से करो। यद्यपि दोनों अवस्थाओं मे दृश्य एक ही है, वर्णन भी शायद एक-सा है, पर दोनों में कितना भेद है! एक व्यक्ति भिक्षुक का अभिनय करके आनन्द ले रहा है और दूसरा सचमुच दु:ख-कष्ट से पीड़ित है। ऐसा भेद क्यो होता है? इसलिए कि एक मुक्त है और दूसरा बद्ध। अभिनेता जानता है कि उसका यह भीखारीपन सत्य नही है, उसने यह केवल अभिनय के लिये स्वीकार किया है, परन्तु यथार्थ भिक्षुक जानता है कि यह उसकी चिर-परिचित अवस्था है और उसकी इच्छा हो या न हो, वह कष्ट उसे सहना ही पड़ेगा। उसके लिये यह अभेद्य नियम के समान है और इसीलिए उसे कष्ट उठाना पड़ता है। हम जब तक अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हम केवल भिक्षुक हैं, प्रकृति के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु ने ही हमें दास बना रखा है। हम सम्पूर्ण जगत् में सहायता के लिये चीत्कार करते फिरते हैं – अन्त में काल्पनिक सत्ताओं से भी हम सहायता माँगते हैं, पर सहायता कभी नहीं मिलती; तो भी हम सोचते हैं कि इस बार सहायता मिलेगी। इस प्रकार हम सर्वदा आशा लगाये बैठे रहते हैं। बस, इसी बीच एक जीवन रोते-कलपते आशा की लौ लगाये बीत जाता है और फिर वही खेल चलने लगता है।[१०२]

बढ़े चलो

अब यदि तुममें से कोई सचमुच ही इस विज्ञान का अध्ययन करना चाहता है, तो जिस दृढ़ निश्चय के साथ वह जीवन का कोई व्यवसाय शुरू करता है; वैसी ही या बल्कि उससे भी बढ़कर निश्चय के साथ इसे आरम्भ करना होगा।

व्यवसाय के लिये कितने मनोयोग की जरूरत होती है और वह व्यवसाय हमसे कितने कड़े श्रम की माँग करता है! यदि बाप, माँ, स्त्री या बच्चा भी मर जाय, तो भी व्यवसाय रुकने का नहीं! चाहे हमारे हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हों, चाहे व्यवसाय का हर घण्टा हमारे लिये पीड़ादायी ही क्यों न हो, फिर भी हमें व्यवसाय के जगह पर जाना ही होगा। यह है व्यवसाय और हम समझते हैं कि यह ठीक ही है और इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है।

यह विज्ञान किसी भी अन्य व्यवसाय की अपेक्षा अधिक लगन की अपेक्षा रखता है। व्यवसाय में तो अनेक लोग सफलता प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इस मार्ग में बहुत ही थोड़े; क्योंकि यहाँ पर मुख्यत: साधक के मानसिक गठन पर ही सब कुछ अवलम्बित रहता है। जिस प्रकार व्यवसायी, चाहे धनवान बन सके या न बन सके, कुछ कमाई तो अवश्य कर लेता है, उसी प्रकार इस विज्ञान के प्रत्येक साधक को कुछ ऐसी झलक अवश्य मिलती है, जिससे उसे विश्वास हो जाता है कि ये बातें सच हैं और ऐसे मनुष्य हो गये हैं, जिन्होंने इन सबका पूर्ण अनुभव कर लिया था।[१०३]

अत्यन्त छोटा कर्म भी यदि अच्छे भाव के साथ किया जाय, तो उससे अद्भुत फल की प्राप्ति होती है। अतएव जो जहाँ तक अच्छे भाव से कर्म कर सके, करे। मछुआ यदि अपने को आत्मा समझकर चिन्तन करे, तो वह एक अच्छा मछुआ होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा विचारे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे, तो वह एक अच्छा वकील होगा।[१०४]

एक वीर की भाँति आगे बढ़ जाओ। बाधाओं की परवाह मत करो। यह देह भला कितने दिनों के लिए है? ये सुख-दु:ख भला कितने दिनों के लिए है? जब मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, तो भीतर की आत्मा को जगाकर कहो – मुझे अभय प्राप्त हो गया है। ... उसके बाद जब तक यह शरीर रहे, तब तक दूसरों को निर्भयता की यह वाणी सुनाओ – **'तत्त्वमसि'**, **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'** – 'तुम वही ब्रह्म हो', 'उठो, जागो और लक्ष्य को प्राप्त किये बिना रुको मत'।[१०५]

❖ (समाप्त) ❖

९२. विवेकानन्द साहित्य, ४.१०८-१०९; ९३. वही, १.४१
९४. वही, ४.११०; ९५. वही, ६.२६७; ९६. वही, ७.२०२
९७. वही, ७.१०७; ९८. वही, ३.६४-६५ ९९ वही, ९.१०३
१००. वही, १.८६ १०१. वही, ३.१०५ १०२. वही, ८.३२
१०३. वही, ४.१७९ १०४. वही, ५.१४० १०५. वही, ६.१८०

बोधकथा

सन्त नामदेव और चोर

सन्त नामदेव एक बार घूमते हुए एक गाँव में जा पहुँचे। रात हो चुकी थी। सामने से एक चोर आ रहा था। चोर उन्हें देखते ही पहले तो ठिठका, परन्तु उनसे कोई खतरा न देख आगे बढ़ गया। नामदेव को सारी बात समझते देर न लगी। उन्होंने चोर को रोका और उसे चोरी न करने का उपदेश देने लगे। चोर बोला, "यह तो मैं भी जानता हूँ कि चोरी करना अच्छा नहीं है, परन्तु मेरे बाल-बच्चों का पेट कैसे भरेगा?"

नामदेव महाराज बोले, "ठीक है, तुम अपना धन्धा तो चालू रखो, परन्तु मुझे एक वचन देते जाओ।"

"कौन-सा वचन?" – चोर ने पूछा।

"आज से तुम सर्वदा सच ही बोलोगे" – सन्त ने कहा।

चोर ने पहले तो आनाकानी की, परन्तु उन्हें टालने के लिए जैसे-तैसे उसने हामी भर दी।

घनघोर अँधियारी रात थी। चोर अपनी आजीविका की सिद्धि में निकला था। मार्ग में एक जगह उसकी वेश बदल कर घूमते हुए राजा से भेंट हुई। चोर ने उसे पहचाना नहीं। राजा ने पूछा – "भाई, इतनी रात गये कहाँ जा रहे हो?"

चोर बोला – "चोरी करने।" सन्त को वचन दे देने के कारण चोर मजबूर था, इसीलिए उसने सत्य बोल दिया था।

परन्तु राजा इतना स्पष्ट उत्तर सुनकर विस्मित रह गया। उसने चोर की परीक्षा लेने की नीयत से कहा, "मैं भी एक चोर हूँ। अच्छा हुआ कि तुमसे भेंट हो गयी। मैं राजमहल में चोरी करने जा रहा हूँ, तुम भी मेरा साथ दो। मैं तुम्हें महल में जाने का गुप्त रास्ता बता देता हूँ। तुम अन्दर जाकर जो भी मिले उठा लाओ और हम दोनों आधा आधा बाँट लेंगे।"

चोर और राजा चल पड़े। महल के भीतर जाकर चोर को एक सन्दूक में तीन बेशकीमती हीरे मिले। अब इन तीन हीरों में बँटवारा कैसे होगा? चोर ने सोचा कि किसी को पता तो है नहीं कि सन्दूक में कितने हीरे थे; साथी को बता दूँगा कि दो ही हीरे थे। और उसे एक हीरा देकर बाकी दो मैं रख लूँगा।

परन्तु तभी उसे नामदेव और उन्हें दिये गये अपने वचन की याद आयी। उसने एक हीरा वापस सन्दूक में रखा, बाहर आकर एक हीरा अपने साथी को दिया और एक हीरा स्वयं लेकर चल पड़ा। महल में लौटकर राजा ने सन्दूक खोलकर देखा, तो तीसरा हीरा ज्यों-का-त्यों सुरक्षित पड़ा था।

अगले दिन राजा ने अपने प्रधानमंत्री को बुलवाकर उसे हीरों की चोरी हो जाने की बात बतायी और चोर को पकड़वाने का आदेश दिया। राज्य के अनेक चोरों को पकड़कर राजा के सामने पेश किया गया। उन्हीं में उस रातवाले चोर को भी देख राजा बड़ा खुश हुआ। उसने चोरों की ओर देखते हुए कहा, "कल गुप्त मार्ग से महल में घुसकर किसी ने हीरे चुरा लिए हैं। जिसने भी यह चोरी की है, वह कबूल कर ले, वरना उसकी खैर नहीं।" सभी चोर चुप खड़े रहे। ...

तभी रातवाले चोर को सन्त की बात याद आ गयी और आगे बढ़कर वह कह उठा, "महाराज, चोरी मैंने की है।"

अब राजा ने प्रधानमंत्री को महल में जाकर सन्दूक लाने का आदेश दिया। मंत्री ने जाकर एकान्त में सन्दूक खोला तो उसमें उसे एक हीरा दिखा। उसके मन में लोभ आ गया। उसने सोचा – "जब चोर पकड़ा ही जा चुका है और उसने चोरी स्वीकार भी कर ली है, तो क्यों न इसे मैं ही रख लूँ!"

यह सोचकर उसने खाली सन्दूक को लाकर राजा के सामने रख दिया। राजा सब कुछ समझ गया। उसने चोर से पिछले रात की आपबीती सुनाने का आदेश दिया। चोर ने सब कुछ सच सच बताते हुए राजा के सामने अपना हीरा रख दिया। राजा ने भी उसके पास ही अपना हीरा रखते हुए प्रधानमंत्री से कहा, "अब तुम भी अपने पास का हीरा निकालो।" मरता क्या न करता! मंत्री ने भी अपना हीरा निकालकर वहीं रख दिया।

अब राजा बोला, "मुझे तुम्हारे समान ही सच्चा और ईमानदार प्रधानमंत्री चाहिए। इस भ्रष्ट बेइमान के जैसा नहीं।" चोर राजा के चरणों में गिरकर कहने लगा, "मुझे कोई भी पद नहीं चाहिए। मैं तो उन नामदेव महाराज की ही सेवा में रहना चाहता हूँ, जिनकी एक बात मानने से मुझे एक ही दिन में प्रधानमंत्री का पद मिलने लगा है। उनकी हर बात मानकर चलूँ, तो सम्भव है मुझे ब्रह्मपद ही मिल जाय।"

इतना कहकर वह सन्त नामदेव के पास जाकर सदा-सर्वदा के लिए उनका शिष्य बन गया।

सुग्रीव-चरित (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'सुग्रीव-चरित' पर कुल ३ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके प्रथम प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

सुग्रीव के नाम पर यदि हम दृष्टि डालें, उस पर विचार करें, तो उसमें सुग्रीव के चरित्र का मूल सूत्र प्रकट हो जाता है। सुग्रीव शब्द का अर्थ आप लोग भलीभाँति जानते होंगे। गोस्वामी जी ने कही कहीं सुग्रीव के स्थान पर सुकण्ठ शब्द का प्रयोग किया है –

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ।
राखे सरन जान सबु कोऊ ।। १/२५/१

सुग्रीव शब्द का अर्थ यह हुआ कि जिसका कण्ठ, जिसका गला अथवा गर्दन सुन्दर हो। सुग्रीव के सारे अंगों में से ग्रीवा को जो विशेष महत्व दिया गया, इसका क्या तात्पर्य है? रामायण में आप कुछ ऐसे पात्र पायेंगे, जिनके नामकरण में अंगविशेष की ओर संकेत किया गया है। जैसे कुम्भकर्ण है। कुम्भकर्ण का अर्थ है, जिसका कान घड़े के समान हो। कुम्भकर्ण तो देखने में यों ही बड़ा विशालकाय था, पर उसे कुम्भकर्ण कहने का तात्पर्य क्या है, क्यों उसके सारे अंग बड़े होते हुए भी उसके अंगविशेष को महत्त्व देकर, उसी अंग के नाम पर उसका नामकरण किया गया? इसी प्रकार लंका की सूर्पणखा है। वहाँ पर भी अंगविशेष की ओर संकेत है। सुर्पणखा का अर्थ है, जिसके नाखून सूप के समान बड़े बड़े हों। इस तरह सारे अंगों में से केवल नाखून की ओर ध्यान आकृष्ट करना अथवा केवल ग्रीवा या कण्ठ की ओर संकेत करना पुराणों तथा 'मानस' की सांकेतिक भाषा है। वस्तुत: इन अंगों के माध्यम से जो बात कही गयी है, वह बड़े महत्व की है। जब कुम्भकर्ण के प्रसंग में उसके कानों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया गया, तो हम भलीभाँति जानते हैं कि विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी ने कुम्भकर्ण को मूर्तिमान अहंकार के रूप में देखा है –

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहंकार,
पाकारिजित काम विश्रामहारी। विनय प.-५८

स्वाभाविक रूप से अहंकारी व्यक्ति का ध्यान कहाँ केन्द्रित होता है? उसके जीवन में सबसे अधिक जिस अंग का महत्व होता है, वह है कान। क्यों? इसलिए कि अहंकारी व्यक्ति निरन्तर दूसरो के मुख से अपनी प्रशंसा सुनने को व्यग्र रहता है। जो निरन्तर दूसरों से अपनी स्तुति सुनने के लिये व्यग्र रहता है, उसके लिये तो उसका कान ही सबसे महत्वपूर्ण अंग हैं। कुम्भकर्ण के सन्दर्भ में एक सांकेतिक भाषा यह भी आती है कि रावण जब उसे युद्ध के लिये भेजता है तो पहले उसको खूब शराब पिलाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे कोई व्यक्ति जब शराब पी लेता है तो अपनी वास्तविकता को भूलकर नशे में स्वयं को एक भिन्न रूप में देखने लगता है। यही शराबी का स्वभाव है।

इस सन्दर्भ में एक गाथा बड़ी प्रसिद्ध है। राजा को हाथी पर सवार जाते देखकर एक शराबी ने पूछा, "हाथी कितने में बेचोगे?" सैनिकों ने उसे दण्ड देना चाहा पर राजा ने कहा, "केवल पता लगा लो, यह रहता कहाँ है।" दूसरे दिन राजा ने कहा, "अब उस व्यक्ति को ले आओ।" जब उस आदमी को बुलाकर लाया गया, तो राजा ने मुस्कुराकर कहा "कल तुम हाथी खरीदना चाहते थे। उस समय तो सौदा नहीं हो सका था, अब सौदा हो जाय।" तब बेचारे उस शराबी ने साष्टांग प्रणाम करते हुए कहा – "महाराज, वह हाथी खरीदने वाला तो कल रात ही चला गया। मैं तो आपकी एक तुच्छ प्रजा हूँ।" शराबी जिस समय नशे में होता है, उस समय यह भूल जाता है कि वस्तुत: वह क्या है? उल्टे नशे के कारण वह अपने आपको न जाने क्या क्या समझ बैठता है। अहंकार की प्रकृति भी ऐसी ही होती है। दूसरे के मुँह से अपने विषय में सुनना, इससे बढ़कर बुद्धि की कोई विडम्बना नहीं हो सकती। अब धन के विषय में तो आप दूसरों से नहीं सुनते कि आपके पास कितना धन है। उसे तो आप स्वयं जानते हैं। परन्तु जब आप अपने सद्गुणों के विषय में दूसरों से जानना चाहते हैं, तो इसका अभिप्राय है कि आप स्वयं जिस वस्तु को नहीं जानते, उसे दूसरों के मुँह से सुनकर, उसे वास्तविक मानकर ही स्वीकार कर लेते हैं।

रावण जिस तरह कुम्भकर्ण को शराब पिलाता है, उसका भी सांकेतिक तात्पर्य यही है और उसमें भी गोस्वामी जी ने एक बड़ा सुन्दर शब्द चुना है। रावण ने शराब कैसे मँगाई? शराब किसमें भरकर लायी गयी? यहाँ पर वे एक सांकेतिक शब्द देते हैं –

रावन मागेउ कोटि घट ... ।। ६/६३

घड़े भरकर शराब मँगाई गयी। बहुत बढ़िया बात है – शराब एक घड़े से निकली और दूसरे कान के घड़े में समा

गई। इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुत: जो व्यक्ति अभिमानी है, वह इसलिए अभिमानी है कि वह अपनी वास्तविकता को भूला हुआ है और अपनी वास्तविकता को भूलाने हेतु व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार के सुरा का सेवन करता ही है। ऐसे व्यक्ति जो कभी शराब नहीं पीते, वे भी जब प्रशंसा की सुरा पीते हैं, तो मतवाले हुए बिना नहीं रहते। विनय-पत्रिका मे गोस्वामी जी कहते हैं कि व्यक्ति के हृदय में दो कामनाएँ ऐसी हैं, जो शायद ही दूर हो पाती हों और यह बात बड़े महत्व की है। उन्होंने कहा –

कोउ भल कहउ, देउ कछु,
असि बासना न उरते जाई ।। वि. प. ११९

कोई मुझे कुछ दे, यह वासना भी जाना कठिन है, परन्तु प्रशंसा सुनने की कामना छूटना उससे भी कठिन है। जिनके हृदय में भौतिक दृष्टि से कुछ पाने की आकांक्षा नहीं हैं, उनके हृदय में भी – 'कोई हमें अच्छा कहे', 'हमारी प्रशंसा करे' – यह वासना शेष रह जाती है। तात्पर्य यह कि त्याग करनेवाले के मन में यह वासना शेष रह जाती है कि कम-से-कम सामने वाला व्यक्ति उसे त्यागी तो कहे। इसलिये कुम्भकर्ण के सन्दर्भ में जब उसके कान की ओर संकेत किया, तो उसका अभिप्राय यह है कि यह कान ही उसके मूल में है और चलकर इसकी अन्तिम परिणति यह होती है कि उसका विनाश भी इसी कान के कारण होता है। कुम्भकर्ण विजयी होकर लौट रहा था और उस विजेता की बगल में सुग्रीव दबे हुए थे। युद्ध में सुग्रीव मूर्छित हो गये और कुम्भकर्ण ने उन्हें बगल में दबा लिया था। मूर्छा दूर होने पर सुग्रीव ने देखा कि वे कुम्भकर्ण की बगल में दबे हुए हैं। इसका अभिप्राय यह है कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन में भी कभी ऐसा होता है कि अभिमान उसे दबा देता है। महान-से-महान व्यक्ति भी कभी-कभी अभिमान का बन्दी हो जाता है। परन्तु बुद्धिमता इसी में है कि मूर्छा दूर होने के बाद भी वह बन्दी न बना रहे, अपितु चैतन्य हो जाय, अहंकार के बन्धन से मुक्त हो जाय। सुग्रीव ने क्या किया? सुग्रीव के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता क्या है? इसकी चर्चा मैं विस्तार से करना चाहूँगा। सुग्रीव अपनी क्षमता से भलीभाँति परिचित हैं। दुर्भाग्य तो उन लोगों का है, जो अपनी क्षमता को नहीं जानते कि वे हैं क्या! सुग्रीव को कम-से-कम यह तो ज्ञात है कि वे कुम्भकर्ण को परास्त नहीं कर सकते।

प्रभु ने एक दिन लक्ष्मणजी से कहा, "लक्ष्मण, मेरी दृष्टि में तो तुमसे बढ़कर कोई योद्धा नहीं है। रावण से भी तुमने युद्ध किया, मेघनाद से भी किया और उसका वध ही कर दिया, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि जब कुम्भकर्ण लड़ने आया, तो उससे लड़ने के लिये तुमने मुझसे एक बार भी अनुमति नहीं माँगी और उससे नहीं लड़े?" लक्ष्मणजी ने मुस्कुराकर कहा – "महाराज, बाकी दुर्गुणों को लड़कर परास्त किया जा सकता है, पर अहंकार को तो आप ही मार सकते हैं, जीव उसे नहीं मार सकता। इसलिए यह काम मैंने आप पर ही छोड़ दिया। जो कार्य जीव की क्षमता से बाहर है, उसे करने का दावा मैं क्यों करूँ?" यहाँ भी वही संकेत है – कुम्भकर्ण अब तक तो विजेता बनकर लौट रहा था। अब क्या हो गया? संकेत किया गया –

काटेसि दसन नासिका काना ।। ६/६५/६

सुग्रीव ने अपने दाँतों से कुम्भकर्ण के नाक-कान काट लिये। क्या संकेत है? जब अहंकारी व्यक्ति के अहंकार पर चोट लगती है, तो वह तिलमिला उठता है। कान और नाक यह सांकेतिक भाषा है। कान उसके नाम कुम्भकर्ण के साथ ही जुड़ा हुआ है और नासिका से भी आप भलीभाँति परिचित ही हैं मानो वह अभिमान का प्रतीक ही बन गयी है। अभिमानी व्यक्ति को सबसे अधिक चिन्ता यही रहती है कि कहीं नाक न कट जाय। नाक और कान, दोनों ही अहंकार की ओर संकेत करते हैं। ये दोनो जो अहंकार के केन्द्र हैं, उन पर जब प्रहार किया गया, तब कुम्भकर्ण पुन: लौटकर युद्धक्षेत्र में आ जाता है और भगवान श्रीराम के द्वारा उसका वध कर दिया जाता है। वहाँ पर बड़ी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया गया है कि भगवान श्री राघवेन्द्र ने कुम्भकर्ण को मारने से पहले उसके मुख को बाणों से भर दिया। इसका क्या अर्थ है? अहंकारी व्यक्ति की समस्या यह भी है कि जब कोई प्रशंसा करनेवाला मिल जाय तो वह सुनना चाहता है और यदि कोई प्रशंसक न मिले, तो वह स्वयं अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने लगता है। इसलिये भगवान श्रीराम सबसे पहले कुम्भकर्ण के मुँह को बाणों से भर देते हैं और उसकी भुजाओं को काट देते हैं। यह कुम्भकर्ण से लड़ने की पद्धति है। रावण से युद्ध भिन्न पद्धति से किया गया, परन्तु कुम्भकर्ण से लड़ते समय पहले उसका मुँह बाणों से भर दिया गया और दोनों भुजायें काट दी गयीं। मैं और तू – ये अभिमान की दो भुजाएँ हैं। यह जो 'मैं' है, वह 'तू' के बिना नहीं रह सकता। इसका अभिप्राय यह है कि हम अभिमान तभी करते हैं, जब कोई दूसरा हो। हम सामने वाले से तुलना करके कहते हैं कि मैं इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ। इसलिए अभिमान की 'मैं' और 'तू' रूपी दोनों भुजायें काट दी गईं और भगवान राम ने बाणों द्वारा उसके मुख को बन्द करके उसकी आत्मप्रशंसा की वृत्ति को मिटा दिया। इसके बाद कुम्भकर्ण भगवान के सम्मुख आ जाता है –

सरन्हि भरा मुख सन्मुख धावा ।
काल त्रोन सजीव जनु आवा ।। ६/७१/३

इसका एक दूसरा तात्पर्य भी है। धर्मरथ के प्रसंग में बाण का स्वरूप बताया गया – शम-दम-यम-नियम आदि ही बाण हैं –

सम जम नियम सिली मुख नाना ।। ६/८०/९

भिन्न भिन्न साधन और सत्कर्म ही धर्मरथ में विजय पानेवाले योद्धा के बाण हैं। भगवान ने कुम्भकर्ण पर बड़ी कृपा की। उन्होने अपने बाणों से उसके मुँह को भर दिया और तब वह प्रभु के सामने आ गया। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि जो आलसी व्यक्ति है, वह स्वयं तो साधना कर नहीं सकेगा। भगवान ने कृपा करके उसके मुख को बाणों से भर दिया और कहा – हाँ भाई, अब सन्मुख होने के लिये जिस साधन की जरूरत है, वह मैने तुममें आरोपित कर दिया है, अब चले आओ। इस प्रकार कुम्भकर्ण प्रभु के सम्मुख आता है। 'मै' ईश्वर के सम्मुख आता है और अन्त में वह 'मैं' ईश्वर में विलीन हो जाता है। कुम्भकर्ण के मुख से तेज निकलता है और भगवान मे समा जाता है –

तासु तेज प्रभु बदन समाना ।। ६/७१/८

अभिमान या तो पूरी तौर से निःशेष हो जाय अथवा भगवान मे समा जाय। यदि हमारे जीवन में अभिमान हो तो भगवान के सम्बन्ध का अभिमान हो। तो इस तरह कुम्भकर्ण के सन्दर्भ में एक पात्र के रूप में अहंकार का विश्लेषण किया गया। उसी प्रकार सूर्पणखा भी है। सुर्पणखा का तात्पर्य यह है कि यों तो हम निरन्तर अपने सारे अंगों की सुरक्षा करते रहते है और सावधान रहते हैं कि कोई भी अंग कट न जाय, परन्तु देह में नाखून एक ऐसा अंग है, जिसे कटने से बचाना नही, अपितु उसे काटना ही पड़ता है और यही बड़े महत्व की बात है। जीवन में स्थित काम-वासनाएँ ही नाखून हैं। जीवन में नाखून का भी उपयोग है, पर उसकी एक सीमा है। नाखून जब उस सीमा से अधिक बढ़ जाय, तो उसे कैंची या नहरनी से काट दिया जाता है। वैसे ही जब काम-वासना मर्यादा की सीमा को लाँघने लगे, तब उसे विवेक-वैराग्य की कैंची या नहरनी से काट देना चाहिए। नाखून जब तक अंगुली की सीमा में रहे, तभी तक वह उपयोगी तथा रक्षणीय है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक वासना नियंत्रित है; तब तक वह उपयोगी है; परन्तु जब वह सीमा से अधिक बढ़ने लगे, तब व्यक्ति को चाहिये कि वह उसे नाखून की तरह अवश्य काट दे। सुर्पणखा नाखून काटने में विश्वास नहीं करती। वह नाखून को सूप की तरह बढ़ने देती है। इसका अर्थ यह है कि सूर्पणखा वासना के लिये किसी सीमा या मर्यादा को स्वीकार नही करती। वासना चाहे किसी दिशा में जितना भी बढ़े, वह उसे यथेष्ट छूट देती है। और बड़ी सुन्दर बात यह है कि जो नाखून नही काटेगा, उसकी नाक-कान जरूर कटेगी। सूर्पणखा के दोनो कट गये न! इसका अर्थ है कि जिसे काटना है, उसे बचायेगे, तो जिसे नही कटना चाहिए, वह कट जायेगी।

इन नामों के माध्यम से मानो जीवन में आनेवाली समस्याओं तथा साधना के सन्दर्भ में उसके स्वरूप की ओर संकेत किया गया है। कुम्भकर्ण और सूर्पणखा के जीवन में जैसे कान तथा नख की प्रधानता दी गई है, वैसे ही सुग्रीव के सन्दर्भ में उनकी ग्रीवा को प्रधानता दी गई है। वैसे तो सुन्दरता के सन्दर्भ में ग्रीवा का महत्व है, पर साधारणत: जब किसी को सुन्दर कहा जाता है, तब उसकी आँखों की ओर अथवा मुख की ओर ध्यान जाता है। लेकिन यह जो सुग्रीव के गले की ओर ध्यान दिया गया, इसका क्या तात्पर्य है?

सुग्रीव के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है, अभिमान का अभाव और बाली के जीवन का सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष था – अभिमान का अतिरेक। इसलिए बाली ने जब भगवान राम से प्रश्न किया – आपने मुझे क्यों मारा? तब भगवान राम ने बाली के ऊपर बारम्बार अभिमान का ही आरोप लगाया। भगवान ने बाली से यही कहा –

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना ।
नारि सिखावन करसि न काना ।।
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी ।
मारा चहसि अधम अभिमानी ।। ४/९/९-१०

इसका सांकेतिक अभिप्राय यही है कि सद्‌गुणों के साथ अभिमान की समस्या ही सर्वाधिक जटिल है। यही बाली के चरित्र की समस्या है। अब बाली और सुग्रीव के सन्दर्भ में जरा उनके शरीर पर ध्यान दीजिये। बाली के शरीर में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग कौन सा है? उसकी भुजा। और सुग्रीव के शरीर में सर्वाधिक महत्व दिया गया है, उसके ग्रीवा (गर्दन) को। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि बाली जब देखता है, तो अपनी भुजाओं को देखता है – मेरी ये भुजायें हैं, इनमें इतनी सामर्थ्य है कि विश्वविजेता रावण को भी मैंने पकड़कर बगल में दबा लिया था। बाली के जीवन में यह जो – 'काँख' का महत्व है, यह अहंकार की ओर संकेत है –

एक कहत मोहि सकुच अति,
रहा बालि की काँख ।। ६/२४

अब सुग्रीव के चरित्र में जो गर्दन को महत्व दिया गया, इसका क्या अर्थ है? याद रहे, जब कोई व्यक्ति किसी को प्रणाम करेगा, किसी के सामने झुकेगा, तो उसे गर्दन जरूर झुकानी पड़ेगी। इसका सांकेतिक अभिप्राय क्या है? जब हम किसी को माला पहनाते हैं, तो सम्मान का सूचक है, परन्तु उसमें आप एक क्रम पायेंगे और वह क्रम बड़ा सुन्दर है। जिस व्यक्ति के गले में माला पहनायी जायेगी, स्वाभाविक रूप से उस समय वह अपना सिर झुका लेगा। भगवान श्रीराम के चरित्र में इसका यही पक्ष प्रस्तुत है। धनुर्भंग के प्रसंग में इसका बड़ा रसपूर्ण संकेत किया गया है। भगवान राम के द्वारा धनुर्भंग होता है और चारों ओर भगवान राम की जय-जयकार होने लगती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जय-ध्वनि फैल जाती है, तब जनकनन्दिनी श्री सीताजी जयमाल लेकर आती हैं। वहाँ पर यही संकेत है कि जहाँ पर भगवान श्रीराम खड़े

हैं, वहाँ पर श्री सीताजी जयमाल लेकर पहुँच जाती हैं और तब सखियाँ जानकीजी से कहती हैं कि आप श्री राघवेन्द्र के वक्ष में जयमाल धारण कराइये। तब श्री सीताजी ने – अपने दोनों हाथों से जयमाल को उठा लिया –

सुनत जुगल कर माल उठाई ।। १/२६४/६

बड़ी विचित्र स्थिति है। लोग तो इसे कई रूपों में प्रस्तुत करते हैं। किसी वक्ता से मैंने ऐसा भी सुना है कि भगवान राम तो सिर झुकाने के लिये तैयार ही नहीं थे। मानो उनका भाव था कि राम तो विश्वविजेता हैं, सोचते हैं कि मैं भला सिर क्यों झुकाऊँ? तब एक योजना बनायी जाती है। लक्ष्मणजी झुके श्रीराम के चरणों में प्रणाम करने के लिये और प्रभु जब उन्हें उठाने के लिये झुके तो बस, उसी समय सीताजी ने भगवान राम को जयमाल पहना दी। अब ऐसी योजना के द्वारा जो लोग जयमाला पहनवाते हैं, उनके विषय में तो हम कुछ कहेंगे नहीं, परन्तु कम-से-कम गोस्वामीजी के मन में ऐसी कोई योजना नहीं थी। क्योंकि उनके राम ऐसे नहीं हैं। वे तो संसार में सबके सामने झुकने के लिये प्रस्तुत हैं, तो क्या सीताजी के सामने झुकने में उन्हें हेठी लगेगी? यह तो मानो अपनी ही वृत्ति को श्रीराम पर आरोपित कर देना है। मैने एक पुराना चित्र देखा। अंगद या हनुमानजी के सन्दर्भ में, विशेष रूप से अंगद के सन्दर्भ में वह चित्र था, जिसमें वे रावण की सभा में अपनी पूँछ का आसन बनाकर बैठे हुये हैं। इस चित्र के पीछे यही वृत्ति है। कहा जाता है कि अंगद ने सोचा – वाह, मैं भला रावण से नीचे बैठूँ? और तब उन्होंने अपनी पूँछ का आसन बना लिया। उसमें कोई बड़प्पन की बात हो, ऐसा तो मुझे नहीं लगता। नीचे बैठ जाने में लघुता हो और ऊँचे बैठ जाने में श्रेष्ठता हो – इस धारणा से जो ग्रस्त है, वह व्यक्ति तो अभिमान से मुक्त नहीं है। यदि ऐसी स्थिति में हनुमानजी रावण के सामने खड़े हो जाते हैं, तो क्या छोटे हो जाते हैं? तुलसी के हनुमान तो कहते हैं – रावण, मैं हाथ जोड़कर तुमसे प्रार्थना करता हूँ –

बिनती करउँ जोरि कर रावन ।। ६/२२/७

कभी कभी व्यक्ति इन पात्रों पर जब अपनी मनोवृत्ति को आरोपित कर लेता है, तब ऐसी बात कहता है, जो वस्तुत: भक्ति-सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। अब सीताजी जयमाल उठाये खड़ी हुयी हैं, ऐसी स्थिति में गोस्वामीजी कहना क्या चाहते हैं? यह कि जब कोई व्यक्ति सिर झुकायेगा, तो स्वाभाविक है कि दूसरा व्यक्ति भी तत्काल उसे माला पहना देगा। परन्तु यहाँ तो अनोखा दृश्य है। श्रीराम तो सिर झुकाये खड़े हैं और सीताजी जयमाल उठाये खड़ी हैं। पहना नहीं रही हैं। परिणाम क्या हुआ? श्रीराम का सिर न जाने कितनी देर तक झुका रहा। इसका अर्थ क्या हुआ? भक्तों ने कहा – महाराज, आपकी तो सभी झाँकियाँ प्रिय हैं, पर यह झाँकी तो विशेष प्रिय है। क्योंकि –

ग्यान अखंड एक सीतावर ।। ७/७८/५

यहाँ प्रभु की तुलना अखण्ड ज्ञान से की गयी है और सीताजी साक्षात् परा भक्ति हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अखण्ड ज्ञानघन के द्वारा अभिमान का धनुष टूटे, यह तो सार्थकता है, परन्तु धनुष सचमुच टूटा या नहीं, इसका क्या प्रमाण है? धनुष टूटने का अभिप्राय है अभिमान का टूट जाना और यदि भगवान राम ही अकड़कर खड़े हो जाते तो फिर अभिमान टूटा कहाँ, वह तो बना ही हुआ है। धनुष टूट जाने का तो अर्थ ही यह है कि अभिमान पूरी तरह से नि:शेष हो गया। अखण्ड ज्ञान के द्वारा अभिमान का विनाश हो जाने पर वेदों ने भगवान की जो स्तुति की, उसमें यह कहा –

जे ग्यान मान बिमत्त तव
भव हरनि भक्ति न आदरी ।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि
परत हम देखत हरी ।। ७/१२/३

वेद भगवान की स्तुति करते हुये कहते हैं कि कभी कभी ज्ञान को पाकर जो उन्मत्त हो जाते हैं और मंगलमयी भक्ति का आदर नहीं करते, ऐसे लोगों को मैंने ऊँची-से-ऊँची स्थिति में पहुँचकर भी नीचे गिरते हुए देखा है। यहाँ पर इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि अखण्ड ज्ञानघन भगवान श्रीराम का भक्ति के सामने झुके रहना ही सही अर्थों में ज्ञान की सार्थकता है। यदि साधारण व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार किया जाय, तो उसकी गर्दन फिर उठ जायेगी। किन्तु प्रभु तो निश्चित कर चुके हैं – नहीं, मैं तो आपके सामने निरन्तर नत होने के लिये, झुकने के लिये प्रस्तुत हूँ। इसका अभिप्राय क्या है? जयमाल पाने का सच्चा अधिकारी तो वही है, जो स्वयं को झुकाना जानता है, जिसमें अभिमान का अभाव है। क्योंकि जय के बाद सबसे बड़ी समस्या अभिमान की ही होती हैं। जब व्यक्ति जीतता है, तब उसमें अभिमान आ जाता है। पर अभिमान के सन्दर्भ में झुकने का अर्थ यह है कि विजय पाकर जो निराभिमानी हो गया, वही सच्चे अर्थों में विजयी हो जाता है।

अब इसे सुग्रीव के सन्दर्भ में देखें। सुग्रीव का तो भगवान राम से विशेष सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। भगवान श्री राघवेन्द्र की सुग्रीव से मैत्री होती है और भगवान राम प्रतिज्ञा करते हैं –

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ।। ४/६

– सुग्रीव, मैं एक ही बाण से बाली का बध करूँगा। तुम किष्किंधापुरी जाकर बाली को चुनौती दो।

सुग्रीव आश्चर्य से भगवान का मुँह देखने लगे। बोले – प्रभो, बाली को आप मारेंगे या मैं? भगवान बोले – मैं मारूँगा। अभी तो मैंने तुम्हारे सामने प्रतिज्ञा की है। सुग्रीव ने कहा – तो फिर मुझे क्यों भेज रहे हैं? भगवान बोले – लड़ोगे

तुम और मारूँगा मैं। यह बहुत बढ़िया बात है। बाली और सुग्रीव का प्रसंग बड़ा सांकेतिक है। प्रभु का संकेत यह है – ''प्रयत्न और कर्म तो जीव को करना है, परन्तु पुरुषार्थ का फल देना ईश्वर के हाथ में है। मैं मारूँगा, इस कारण तुम निष्क्रिय मत हो जाओ। यह न समझ लेना कि जब भगवान ही मारनेवाले हें, तो भगवान ही लड़ें, हमें कुछ नहीं करना है। तुम युद्ध करो, यह मेरा आदेश है। बस इतना याद रखना कि तुम्हें युद्ध मात्र करना है। कही यह भ्रम न पाल बैठना कि तुम बाली को मारने में, उस पर विजय पाने में समर्थ हो।''

भगवान का आदेश पाकर सुग्रीव ने जाकर बाली को चुनौती दी और जब बाली तथा सुग्रीव का युद्ध हुआ तो बाली ने सुग्रीव पर घूँसे से प्रहार किया। यह भुजा ही बाली का सबसे विशिष्ट अंग है। यह उसका दुर्भाग्य है कि उसे अपनी इन भुजाओं पर बड़ा अभिमान है, क्योकि उसकी इन भुजाओं ने जितनी समस्याएँ खड़ी कीं, उतनी और किसी ने नहीं कीं। बाली ने जितनी बुराइयों को हराया, शायद ही किसी दूसरे ने उतनी को हराया हो। उसने रावण को, दुंदुभी को और मायावी को हराया। ये तीनो ऐसे दुर्गुण हैं, जिनको जीतना अत्यन्त कठिन है, पर बाली ही एक ऐसा पात्र है, जो तीनों पर विजय प्राप्त करता हुआ दिखाई देता है; परन्तु उसकी यह विजय ही उसके जीवन मे सबसे बड़े दुर्भाग्य का कारण बनी।

इस विजय से उसके मन में यह अभिमान हो गया कि मैंने रावण, दुंदुभी और मायावी सबको हरा दिया, अत: मुझसे अधिक महान् और कौन होगा? हमारे पुराणों तथा रामायण की कितनी सांकेतिक भाषा है! हर जगह आपको बाली की एक ही मनोवृत्ति दिखाई देगी। बाली ने जब रावण को जीत लिया तो उसे मार देता, पर उसने उसे मारा नहीं, बगल में दबा लिया और दबाया तो कितने दिनों तक दबाये रहा? छह महीनों तक और छह महीनों तक उसे बगल में दबाये हुये चारों ओर घूमता रहा। यह तो सबसे बढ़िया व्यंग्य है। बाली ने यह सोचा कि मैंने रावण को हरा तो दिया, किन्तु इसको मारकर फेंक दूँगा, तो शायद किसी को यह पता भी नहीं चलेगा कि रावण को किसने पराजित किया, किसने उसे मार दिया? यदि जीवित छोड़ दूँ, तो हो सकता है कि रावण यह कहता फिरे कि बाली मुझे हरा नही सका। अत: बाली ने रावण को हरा दिया और प्रमाणपत्र के रूप में उसे बगल में दबाये घूमता रहा, लोगों को दिखाता फिरा कि मैं कितना बड़ा विजेता हूँ। यही अभिमानी का स्वभाव है – प्रदर्शन, दिखावा। मैं हूँ कैसा – इसका प्रश्न नहीं, पर लोग मुझे किस रूप में जाने – इसका दिखावा किया जाता है। और दुंदुभी के सन्दर्भ में भी यही हुआ। दुंदुभी राक्षस से उसने युद्ध किया और उसे मार दिया। मार देने के बाद फिर वही वृत्ति। दुंदुभी राक्षस को मार देने के बाद उसने उसके शव को उठा लिया और ऋष्यमूक पर्वत पर फेंक दिया, जहाँ ऋषि-मुनियों का आश्रम था। उसे फिर वही चिन्ता हुई थी कि मैंने इसे मार तो दिया है, परन्तु लोग देखें कि मैंने मारा है, मैंने कितना बड़ा काम किया है! और यह प्रदर्शन ऋषि-मुनियों के समक्ष किया गया। ऋषियों ने शाप दे दिया, क्योंकि शव जब वहाँ गिरा, तो आश्रम में उसकी हड्डियाँ बिखर गयीं, शरीर के अंग बिखर गये और इससे आश्रम अपवित्र हो गया। यह ऐसा पर्वत है, जहाँ पर ऋषि लोग मूक होकर निवास करते हैं। बोलना और मूक हो जाना। बोलने की सार्थकता भगवान के चरित्र के सन्दर्भ में तो है ही, पर मूक हो जाने का तात्पर्य यह है कि जब हम अपने अन्तर्हृदय में भगवान के ध्यान में तल्लीन हो जायँ और वाणी की गति अवरुद्ध हो जाय, तो वह मानो सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। वाणी में प्रदर्शन की वृत्ति हो सकती है, पर मौन का अभिप्राय है – विशेषता को प्रदर्शित करने की वृत्ति का अभाव। अपनी वाणी में कितनी सामर्थ्य है, इसे प्रगट करने की वृत्ति का न होना ही मौन है। ऐसी स्थिति में ऋषियों को लगा कि इतना श्रेष्ठ कार्य करने के बावजूद जिस व्यक्ति के मन में केवल दिखाने की वृत्ति है कि लोग देखें कि मैंने कितना बड़ा काम किया है और इसके लिए वह व्यक्ति ऋष्यमूक पर्वत को तथा आश्रम को अपवित्र करनेवाला है, वह यदि ऋष्यमूक पर्वत पर आयेगा, तो उसकी मृत्यु हो जायेगी। ऋषियों के द्वारा दिया गया यह शाप ही सुग्रीव के लिये वरदान बन गया। कैसे?

लक्ष्मणजी ने भगवान श्रीराम से पूछा – ''प्रभो, आपने क्या सोचकर सुग्रीव से मित्रता की है? उसकी सारी कथा सुनकर तो यही लगता है कि भागना ही उसका चरित्र है, यहाँ भागा, वहाँ भागा। आपने क्यों ऐसे व्यक्ति को अपना मित्र बनाया?'' प्रभु हँसकर बोले, ''लक्ष्मण, जरा इसके दूसरे पक्ष पर भी तो ध्यान दो। तुम्हें लगता है कि बाली की अपेक्षा सुग्रीव दुर्बल है और बाली बलवान है, पर याद रखो सुग्रीव जब भागा और बाली ने उसका पीछा किया तो वह सुग्रीव को नहीं पकड़ सका। इससे यही समझ में आता है कि बाली भले ही अधिक शक्तिशाली हो, पर भागने की कला में सुग्रीव ही अधिक सक्षम है। बाली उसे पकड़ पाने में समर्थ नहीं हो पाया। यह बड़ी अच्छी बात है। भागने की ऐसी कला कि अभिमान हमें बन्दी न बना सके, पकड़ न सके – भागने की इससे बड़ी सार्थकता और क्या हो सकती है? और देखो, वह पता लगाने की कला में भी कितना निपुण है! उसने पता लगा लिया कि बाली कहाँ नहीं आ सकता। यह बहुत बड़ी समस्या है न! क्योंकि सुग्रीव जहाँ जाता है, बाली उसका पीछा करता है। पर सुग्रीव कितना विलक्षण निकला! उसने पता लगा लिया कि बाली अन्य सभी जगह तो जा सकता है, परन्तु ऋष्यमूक पर्वत पर नहीं जा सकता। बस, वहीं चलना चाहिये, वहीं निवास करना चाहिये। भगवान राम ने कहा –

"बस, यही तो चाहिये। सीताजी का पता लगाने के लिये इससे अधिक उपयुक्त दूसरा कौन होगा? सीताजी कहाँ हैं, इसका पता लगाने के लिए, उतनी दूर दौड़कर पहुँचने के लिए तो यह सुग्रीव ही सबसे अधिक उपयुक्त पात्र है। इससे बढ़कर उपयुक्त पात्र दूसरा कोई दूसरा हो ही नहीं सकता।"

दूसरी ओर बाली के जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष क्या है? वह मायावी से लड़ने जाता है। सुग्रीव साथ में है, पर जब वह गुफा के द्वार के निकट पहुँचा, तो सुग्रीव से कहा कि तुम मेरे साथ भीतर मत आओ, मैं अकेला जाऊँगा और यह अकेला जाने का स्वभाव ही बाली का स्वभाव है और यही कुम्भकर्ण का स्वभाव भी है। रावण जब कुम्भकर्ण से पूछता है – कितनी सेना लेकर लड़ने जाओगे? तो वह कहता है – सेना लेकर तो आप लोग लड़ने जाइये, मैं तो अकेला ही काफी हूँ – बिना सैनिकों के ही लड़ने चल पड़ा –

कुंभकरन दुर्मद रन रंगा।
चला दुर्ग तजि सेन न संगा।। ६/६४/२

अकेले ही क्यों चल पड़ा? अहंकारी को जिस बात की चिन्ता रहती है, वही बाली को भी है और कुम्भकर्ण को भी। अहंकारी व्यक्ति विजय में भी किसी को भागीदार नहीं बनाना चाहता। तमोमय अहंकार कुम्भकर्ण के जीवन में है और रजोमय अहंकार बाली के जीवन में। कुम्भकर्ण को यह चिन्ता है कि सेना लेकर जायेंगे और जीतेंगे तो यही कहा जायेगा कि सेना भी साथ में थी। बाली को भी चिन्ता इसी बात की है कि सुग्रीव भी साथ जायेगा, तो लोग कहेंगे कि दोनों भाइयों ने मिलकर लड़ाई जीती। उसे अपने भाई को भी श्रेय देने में संकोच है। यह अभिमान की प्रवृत्ति है। कुम्भकर्ण का अभिप्राय मानो यह था कि अन्य दुर्गुण तो जब मिलकर लड़ते हैं, तब किसी को परास्त करते हैं; लेकिन अभिमान ऐसा है कि वह अकेला ही यदि जीवन में आ जाय तो काफी है। अभिमान का यह अकेलापन क्या है? इसका अभिप्राय है कि अभिमान की यही प्रवृत्ति है – मैं अकेला समर्थ हूँ, मुझे किसी को सहायता की अपेक्षा नहीं है। बाली कहता है कि मायावी को मैं अकेला मार दूँगा। यदि वह सुग्रीव को साथ लेकर जाता, तो आगे चलकर बाली के जीवन में जो समस्याएँ आई, वे न आतीं।

सुग्रीव के चरित्र का जो सर्वोत्कृष्ट पक्ष है, वह यही है कि उसे अपनी असमर्थताओं का भलीभाँति ज्ञान है। वह जानता है कि वह क्या है। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है और उसका सदुपयोग हनुमानजी के द्वारा किया जाता है। इसी में दोनों का सामंजस्य है। अभिप्राय है कि व्यक्ति में सामर्थ्य और असामर्थ्य दोनों हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का कर्तव्य क्या है? हमें सजग रहकर देखना होगा कि जो सामर्थ्य हममें है, उसका हम सदुपयोग कर रहे हैं या नहीं? अपने सामर्थ्य को हम किस दिशा में लगा रहे हैं, सामर्थ्य का हम क्या उपयोग कर रहे हैं? हमार पास धन है, बल है, बुद्धि है। यदि ये वस्तुयें हमारे पास हैं, तो हमें देखना होगा कि क्या इनका हम सदुपयोग कर रहे हैं? अपनी सामर्थ्य का सही दिशा में सदुपयोग करना ही हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य है और यही कसौटी है कि हम सही दिशा में बढ़ रहे हैं या नहीं।

सुग्रीव के जीवन में सबसे बड़ी विलक्षण बात क्या हुई? बड़ा सुन्दर संकेत है। यह तो संसार में नित्य देखने में आता है कि विजय के बाद माला पहनाई जाती है, परन्तु हारने के बाद माला? जब सुग्रीव बाली से हारकर आया, तो भगवान राम ने उसे माला पहनाई। लक्ष्मणजी ने भगवान राम से कहा – "आपने तो सृष्टि का नियम ही बदल दिया। जीतनेवाले को माला पहनाते तो देखते हैं, पर हारनेवाले को माला! यह कैसी बात है?" प्रभु हँसकर बोले – "संसार में तो जीतनेवाले को ही सम्मान दिया जाता है, परन्तु मेरे यहाँ तो जो हार जाता है, उसे ही मैं माला पहनाता हूँ।" भगवान राम का अभिप्राय यह है कि सुग्रीव को अपनी असमर्थताओं का भलीभाँति बोध है और यह बोध उसके चरित्र में पग पग पर सर्वत्र दिखाई देता है। यह उसके चरित्र की विशेषता है। जिस सुग्रीव के जीवन में सब कुछ छिन गया – पत्नी छिन गयी, सम्पत्ति छिन गयी, राज्य छिन गया; परन्तु यह कितनी बढ़िया बात है कि सब कुछ छिन जाने के बाद भी, जिसने सुग्रीव का साथ नहीं छोड़ा वह कौन है? – वे हैं श्री हनुमानजी महाराज। हनुमानजी ने बाली का नहीं, सुग्रीव का साथ दिया। हनुमानजी कौन हैं? साक्षात् शंकर के अवतार और मूर्तिमान विश्वास हैं –

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। १/२

इसका अभिप्राय यह है कि जीवन में चाहे सब कुछ छिन जाये, सब चला जाये पर विश्वास न जाने पाये। यदि यह चीज जीवन में बनी रहे, तो उसे सब कुछ मिल जायेगा और सब कुछ होने के बाद भी जिसने विश्वास को खो दिया, तो सब कुछ पाकर भी उसने सब कुछ खो दिया। यदि सब कुछ खोने के बाद भी जिसने जीवन में विश्वास को साथ ले लिया और विश्वास पर जिसका विश्वास है, उसी ने सब कुछ पा लिया है।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ के सान्निध्य में (७५)

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे थे। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद। – सं.)

श्रीमती ...

एक दिन मैं अपने पुत्र हरिचरण को लेकर माँ के घर गयी। उस समय तक हरिचरण का दिमाग खराब हो चुका था। माँ के पास जाकर वह तरह तरह की उल्टी-सीधी बातें करने लगा; यथा – "भूख लगी है, खाने को दे" आदि। माँ ने प्रसाद दिया। वह खाते खाते जूठा प्रसाद इधर-उधर बिखेरने लगा। मै नाराज होकर बोली, "यह मन्दिर है, यहाँ बिखर रहे हो!" माँ तत्काल स्नेहपूर्वक बोलीं, "रहने दो, उसका खाना हो जाने पर तुम गिरा हुआ जूठन उठा देना।"

मैने माँ से कहा, "माँ, उसे क्या हुआ है – ब्राह्मण को देखने पर प्रणाम करता है, गाय को देखने पर प्रणाम करता है।" माँ बोलीं, "जीवो पर दया हुई है।"

एक कोजागरी पूर्णिमा के दिन (अक्तूबर-नवम्बर में) माँ के चरण-कमलों में फूल देने की इच्छा से उपवास करके हरिचरण तथा मै 'उद्बोधन' भवन गये। माँ के चरणों में पुष्प चढ़ाकर हमने उन्हे प्रणाम किया। माँ हरिचरण को आशीष देते हुए बोली, "सौभाग्यवान होओ, दीर्घायु होओ।"

माँ ने मुझसे कहा, "सबको देखकर मुझे शान्ति मिलती है; परन्तु तुम्हारा कमाऊ पुत्र चला गया है, इसलिए तुम्हें देखकर बड़ा कष्ट होता है।"

एक दिन मैने माँ से कहा, "माँ, ठाकुर के पादपद्मों में मेरी भक्ति हो।" माँ बोलीं, "भक्ति करते करते वह हो जायेगी।" जिस किसी दिन सुबह के समय मैं माँ के यहाँ जाती, उस दिन माँ राधू को खिलाने के बाद ठाकुर के भोग के पहले ही मुझे भात खिलाया करती थीं। वे कहतीं, "पुत्रशोक से तुम्हारा कलेजा सूख गया है, तुम पहले खा लिया करो।" मैं बोली, "हमारे यहाँ तो ऐसे ही अन्न का अभाव है। तो क्या मैं ठाकुर के भोग के पहले ही खाऊँगी।" माँ ने कहा, "तुम्हें कभी अन्न का अभाव नही होगा।"

एक दिन माँ बोली, "कहीं वह तुम्हारा पुत्र तो नही है, यह देखने के लिए मैने कई पागलो को बुलाकर देखा है। मैं कहती हूँ, तुम्हारा पुत्र जीवित है। शरत् (स्वामी सारदानन्द) भी कहता है कि वह जीवित है।

माँ से यह पूछने पर कि मेरा पुत्र लौटेगा या नही, उन्होने कहा, "आयेगा।" इसके बाद माँ ने आग उठाया। कपड़े के फीते भलीभाँति लपेटकर जलायी हुई कुछ लकड़ियाँ वे ठाकुर के चित्र के सम्मुख ले गयीं और बोलीं, "उसका बच्चा आयेगा या नहीं – यदि तुम ठीक ठीक न बताओ, तो तुम्हें ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या और गोहत्या का पाप लगेगा।" इसी बीच कपड़े के फीते बीच में स्थित लकड़ियाँ अलग होकर ऊपर उठ गयी थीं और माँ द्वारा उन्हें पकड़ते ही वे झड़कर नीचे गिर गयीं। माँ ने कहा, "देखा बेटी, क्या हुआ! इसका मतलब है कि तुम्हारा बेटा आयेगा। तुम भी घर में स्वयं करके देख लो।" माँ के कथनानुसार घर लौटकर मैंने भी उसी प्रकार आग उठाकर देखा। उसका भी वैसा ही फल हुआ।

एक दिन मैं अपनी माता को साथ लेकर श्रीमाँ के लिए एक साड़ी लेकर उनका दर्शन करने गयी। मैंने किसी को वह साड़ी खरीदने को कहा था, परन्तु वह अच्छा वस्त्र नहीं ला सका था। माँ को वह साड़ी देते हुए मैं बोली, "माँ, यह वस्त्र अच्छा नही है, मुझे तो पसन्द नहीं आया।" माँ ने तत्काल आग्रहपूर्वक अपना वस्त्र बदलकर उसे पहना और बोलीं, "देखो, मैंने तुम्हारा वस्त्र पहन लिया। खेद मत करना। मैं इसी को पहनकर गंगास्नान करूँगी।"

एक दिन मैं बलराम बाबू के घर माँ का दर्शन करने गयी थी। उस समय एक व्यक्ति ने माँ के पास रुपया रखकर कहा था, "माँ, अमुक की बीमारी ठीक कर दीजिए।" माँ बोलीं, "रुपया ले जाओ, जन्म होने से मृत्यु होगी ही। मैं क्या कर सकती हूँ?" कुछ दिनो बाद सुनने में आया कि उस व्यक्ति की मृत्यु हो गयी है।

श्रीमती ...

जीवन में वे ही आनन्द के दिन बीते हैं, जब श्रीमाँ थीं। एक दिन मैंने माँ के पास जाकर देखा कि उन्होंने एक कटोरे में लाई का चूरा मिलाया और परम आनन्द के साथ उसमें से दो-चार बार अपने मुख में डालने के बाद कमरे में जितने भी भक्त थे, उन सभी के हाथ में देने लगीं। मैंने कहा, "माँ, आपने नही खाया!" माँ बोलीं, "इन बच्चियों के खाने से ही मेरा भी खाना हो गया।"

एक अन्य दिन मैंने जाकर देखा कि माँ के शरीर पर आमवात के थक्के उभर आये हैं। माँ बोलीं, "यह सब क्या हुआ है, बेटी? कैसे ठीक होता है?" मैंने कहा, "माँ, लोग

कहते हैं कि गोशाले में कम्बल बिछाकर उस पर ढाई बार लोटने से यह ठीक हो जाता है।'' माँ बोलीं, ''अहा, गोशाला और गंगा बड़े ही पवित्र होते हैं; शायद इसी कारण ठीक हो जाता है।''

एक दिन मैं अपनी सात वर्ष की बहन को साथ लेकर माँ का दर्शन करने गयी। कुछ दिनों पूर्व वह नवद्वीप गयी थी और वहाँ से तुलसी की माला पहन आयी थी। माँ उसे माला पहने देखकर आनन्दित हुई और उसके पीठ पर धौल जमाते हुए बोलीं, ''अहा, इसका ऐसा वेश कबसे हुआ?''

उस दिन मैं अपनी दो माह की बच्ची को अपने बसीरहाट के घर में छोड़ आयी थी। भोर की ट्रेन से आयी थी और रात की ट्रेन से लौटनेवाली थी। स्तन से दूध आ रहा था और मैं संकुचित हो रही थी। यह देखकर माँ ने कहा, ''तुम ऐसा क्यों कर रही हो?'' मेरे सब बताने पर माँ कहने लगीं, ''अहा, दो माह की बच्ची को क्यों छोड़ आयी हो, बेटी? ले क्यों नहीं आयी?'' मैं बोली, ''माँ, वह आपके यहाँ आकर गन्दा कर डालती, इसीलिए नहीं लायी।'' माँ ने कहा, ''तो क्या हुआ?'' माँ वहाँ उपस्थित सभी से बारम्बार कहने लगीं, ''अहा, देखो, दो महीने की बच्ची को घर में छोड़कर कितनी दूर से आयी है! कितना कष्ट हो रहा है!'' माँ से थोड़ी-सी सिंहवाहिनी की मिट्टी माँगने पर उन्होंने अपनी भतीजी को उसे देने को कहकर वे मुझसे बोलीं, ''बड़ी जाग्रत देवी हैं।'' विदा लेते समय प्रणाम करने पर माँ ने कहा, ''फिर आना, बेटी।''

श्रीमती प्रियबाला देवी

१९१६ ई. के १२ पौष के दिन (दिसम्बर) मैंने पहली बार माँ के चरणों का दर्शन किया और उनकी कृपा पाकर धन्य हुई। जब मैं एक गुरुभगिनी के साथ कम्पित-गात्र माँ के भवन के दुमंजले पर चढ़ रही थी, तभी योगेन-माँ मुझे पकड़कर माँ के पास ले जाते हुए बोलीं, ''माँ, देखो, देखो, तुम्हारी एक और पुत्री आयी है; देखो, इसके नेत्र-मुख कैसे हैं!'' माँ उस समय मन्दिर में बैठी फल काट रही थीं। बोलीं, ''हाँ जी, मैं इसे जानती हूँ, यह राम[१] की बच्ची है।'' माँ ने मुझे कैसे जान लिया – यह सोच मैं तो अवाक् रह गयी।

माँ ने मुझे मन्दिर में बुलाकर अपनी बगल में आसन पर बैठाया। मेरी गुरुभगिनी द्वारा गंगास्नान को जाने के लिए बुलाने पर माँ ने, ''इसे गंगास्नान की जरूरत नहीं है'' – यह कहते हुए मुझ पर गंगाजल छिड़क दिया। इसके बाद ही उन्होंने मंत्र देकर मुझ पर कृपा की। फिर मुझे एक शब्द बताते हुए वे बोलीं, ''ठाकुर ने मंत्र का यह अंश मात्र मेरे लिए रख छोड़ा था।'' चरणों में अंजलि देते समय माँ ने कहा, ''तुलसी तथा बिल्वपत्र मेरे हाथ में दो और फूल पाँवों में दो।''

मेरी इन गुरुभगिनी ने एक दिन बातचीत के दौरान माँ से कहा, ''इसे निवेदिता स्कूल में पढ़ाने से अच्छा होता।'' इसके उत्तर में माँ बोलीं, ''नहीं, वहाँ रहने की आवश्यकता नहीं, मेरे पास रहने से अच्छा होता।'' परन्तु मेरे भाग्य से ऐसा सौभाग्य कभी नहीं हुआ।

एक दिन मैंने माँ से पूछा था, ''मैं क्या करूँगी? मैं तो कुछ भी नहीं जानती।'' माँ ने कहा, ''और क्या करोगी? जो कर रही हो, वही करना। सुबह-शाम उनका नाम जपना।''

हमारे अंचल की विधवाएँ भोजन आदि के विषय में बड़ी कठोरता का पालन करती हैं – एक अन्य भक्त-महिला से यह बात सुनकर माँ ने मुझसे कहा, ''तुम रात में रोटी-पराठा आदि खाना, ठाकुर को निवेदित करके खाना। देशाचार मानना पड़ता है।''

श्री ...

१९०८ ई. के नवम्बर महीने में जगद्धात्री-पूजा के पिछले दिन मैं दीक्षार्थी के रूप में जयरामबाटी में श्रीमाँ के घर जा पहुँचा। माँ के पास सूचना जाने पर उन्होंने कहला भेजा कि वे अगले दिन कृपा करेंगी।

यथासमय मेरी मंत्रदीक्षा हो गयी। माँ के आदेश पर हम कुछ लोग मिलकर (श्रीरामकृष्ण की जन्मभूमि) कामारपुकुर का दर्शन कर आये। दुर्भाग्यवश उस अल्पकाल के दौरान ही कुछ छोटी-मोटी बात को लेकर एक स्वामीजी के साथ मेरी खूब बहस हो गयी। जयरामबाटी लौटकर वरदा मामा ने सारी बातें माँ को बता दीं।

जगद्धात्री-प्रतिमा के सम्मुख मैं अपने मन के उल्लास में भजन गा रहा था। थोड़ी देर बाद माँ ने मुझे बुलवा कर कहा, ''बेटा, तुम्हारा खूब आनन्द का भाव है, तुम वैसा ही आनन्द करते रहना। माँ जगदम्बा के सामने गीत गाकर जैसे आनन्द कर रहे थे, ठीक वैसे ही करना। वह साधु वैसे ही स्वभाव का है, उसकी बात पर दुखी मत होना। परन्तु तुम्हें अपने जीवन में कुछ बातें स्मरण रखकर चलना होगा। ठाकुर की बड़ी दया है, इसीलिए बचपन से ही स्वतः तुम्हारा उनके प्रति आकर्षण हुआ है। इन तीन चीजों के बारे में खूब सावधान होकर चलना पड़ता है – पहला तो है नदी के तट का मकान; कौन जाने कब नदी आकर घर को तोड़कर ले जाय। दूसरा है साँप; देखते ही खूब सावधान हो जाना पड़ता है; कोई ठिकाना नहीं कि कब आकर काट ले। तीसरा है साधु – उनकी किस बात या मन के भाव से गृहस्थ का अमंगल हो सकता है, यह तुम नहीं जानते। उन्हें देखकर सम्मान करना पड़ता है; उन्होंने उत्तर देकर अवज्ञा दिखाना उचित नहीं।'' माँ के ये अमूल्य उपदेश चिर दिनों के लिए ही हृदय में ग्रथित हो गये हैं।

१. बलराम बोस के पुत्र रामकृष्ण बोस।

डॉ. सुरेन्द्र नाथ राय

एक बार श्रीमॉं का दर्शन करने की प्रबल आकांक्षा होने पर मैं अपराह्न मे ढाई बजे कलकत्ते के अपने घर से निकलकर पसीने से तर-बतर 'उद्‌बोधन' कार्यालय जा पहुँचा। पूछने पर पता चला कि मॉं कहीं गयी थी, अभी अभी लौटी हैं, थोड़ी देर बाद दर्शन हो सकेगा। पर मुझसे देरी सहन नहीं हो रही थी। मुझे मिलने जाते देखकर सीढ़ी के पास खड़े पूज्यपाद स्वामी सारदानन्द जी ने मना किया। मेरी उस समय युवावस्था थी, मैं सहसा कह उठा, "मॉं क्या केवल आपकी हैं?" महाराज को हटाकर मैं ऊपर चला गया। जाकर देखा तो माँ पंखा झल रही हैं। मेरे प्रणाम करने पर माँ ने कुशल पूछा और बोली, "तुम्हे बड़ा पसीना आ गया है।" मैं बोला, "मार्ग में धूप और गर्मी थी।" मैं मॉं के हाथ से पंखा लेकर उन्हें हवा करने लगा। थोड़ी देर बाद मैने मॉं से पूछा, "आज कहाँ गयी थी?" मॉं बोली, "कालीघाट।" इसके बाद उन्होंने कहा, "थोड़ा प्रसाद खाओ, बातें बाद में होंगी।" प्रसाद खाने के बाद मैने पूछा, "मानव-स्वरूप और देवता में क्या भेद है?"

माँ – मनुष्य ही देवता होता है। कर्म करने पर सब कुछ सम्भव है।

मैं – किस प्रकार के कर्म?

माँ – ठाकुर द्वारा बताये गये विधि-निषेधों को मानकर निष्ठापूर्वक अपने इष्ट देवता को पुकारने से सब हो जाता है।

उस दिन और कोई बात नहीं हो सकी, क्योंकि दो-एक भक्त-महिलाओं का आना शुरू हो गया था। प्रणाम करके विदा लेते समय मैं बोला, "माँ, आज मैं एक बड़ी गलती कर आया हूँ। सीढ़ी से आते समय मैं शरत् महाराज को धक्का देकर आया हूँ। अब मैं उनसे कैसे मिलने जाऊँ? मेरा अपराध क्षमा कीजिए।" माँ ने कहा, "बच्चों का अपराध कैसा? मेरे बच्चे ऐसे नहीं हैं, जो दूसरों की भूलों को पकड़े रहें। तुम इस बारे मे चिन्ता मत करो।" नीचे उतरते ही महाराज के साथ भेंट हुई। उन्हें प्रणाम करके मैने क्षमा माँगी। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा, "ऐसी ही व्याकुलता चाहिए" और मुझे आलिंगन में जकड़ लिया। इसके बाद वे बोले, "अब से कोई भी तुम्हें नहीं रोकेगा।" मैंने उनका आशीर्वाद शिरोधार्य किया। इसके बाद से वे मुझे देखते ही खूब हँसने लगते।

एक अन्य रविवार को मैं माँ के पास गया था। उस दिन कुछ भक्त आ चुके थे और कुछ आ रहे थे। मेरे प्रणाम करने पर माँ ने कहा, "जरा बैठो।" उन्होंने मुझे थोड़ा प्रसाद दिया। उसे खाते हुए मैंने उनसे कहा, "माँ, किसी भी दिन ऐसा मौका नहीं मिलता कि काफी काल तक मैं आपसे अपने मन की बातें पूछूँ।"

माँ – मुझे तो अपने सभी बच्चों की बातें सुननी पड़ती हैं। तो भी, दो-एक पूछ लो, उत्तर दे देती हूँ।

मैं – माँ, जो लोग बड़े गरीब हैं, वाराणसी या अन्य कोई तीर्थ नहीं जा सकते, उन लोगों को वैसा ही फल कैसे मिल सकता है?

माँ – क्यों, यदि वैसा विश्वास हो, तो उन्हें दक्षिणेश्वर या बेलूड़ मठ जाने से ही फल मिलेगा। जिनके लिए लोग वाराणसी जाते हैं, वे ही दक्षिणेश्वर तथा बेलूड़ में विद्यमान हैं।

मैं – माँ, मेरे लिए क्या उपाय है?

माँ – तुम्हें कैसा भय? जिन्हें ठाकुर की कृपा मिली है या किसी प्रकार उनके सम्पर्क में आये हैं, उनके लिए ठाकुर ही सब कुछ करेंगे।

इसके बाद मुझे प्रणाम करके विदा लेनी पड़ी। अन्य दो-एक दिनों की थोड़ी-बहुत बातचीत भी यहाँ दे रहा हूँ –

मैं – हमें किस पद्धति से जप-ध्यान करना होगा?

माँ – ठाकुर में थोड़ा मन रखकर जैसी इच्छा हो करना। उसी से सब मिलेगा। तुम्हें कैसी चिन्ता?

मैं – माँ, मुझे चिन्ता तो नहीं है, तो भी आपके श्रीमुख से आदेश पाने के लिए ही पूछ रहा हूँ।

माँ – तुम लोगों के पीछे सभी लोग हैं। ठाकुर हैं और मुझे तो देख ही रहे हो।

मैं – माँ, स्वामीजी को और ठाकुर को देखने का मुझे सौभाग्य नहीं मिला।

माँ – भक्तिपूर्वक पुकारो, सभी को पाओगे। मैं कहती हूँ – तुम लोग धन्य हो, जो इस समय जन्मे हो। उनकी लीला आदि देखने का यही समय है। श्रद्धा और भक्ति के नेत्रों से देखने पर सब कुछ सहज हो जाता है।

मैं – माँ, क्या मनुष्य की इच्छा के अनुसार सारे कार्य होते हैं और उसकी आशाएँ पूर्ण होती हैं?

माँ – भली इच्छाएँ ही पूर्ण होती हैं।

❖ (क्रमशः) ❖
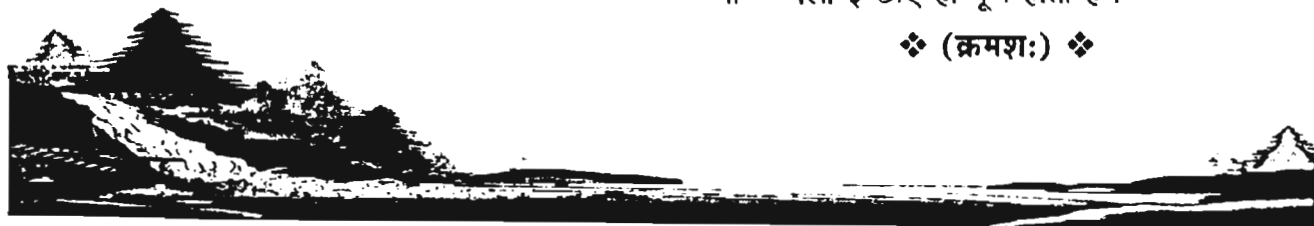
जीवन को सार्थक कैसे करें?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

बहुधा हमारे मन में प्रश्न उठता है कि यह जीवन क्या है? मनुष्य सोचता है कि जिस दिन उसने जन्म लिया और जिस दिन मृत्यु के कराल गाल में समा जाएगा, इस बीच की अवधि का, जिसे हम 'जीवन' के नाम से पुकारते हैं, क्या कोई उद्देश्य है? अथवा क्या मानव-जीवन प्रवाह-पतित तिनके की नाईं है, जो पानी के थपेड़े खाता हुआ, निरुद्देश्य इधर-उधर अटकता-भटकता, एक दिन काल सागर में जाकर मिल जाता है? ये मानव-मन में उठनेवाले बुनियादी प्रश्न हैं, जिनका उत्तर मनुष्य चाहता है। यदि जीवन समझ में आये, तो जीवन का उद्देश्य भी समझ में आएगा, और जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति ही जीवन की सार्थकता होगी।

पियरे टेलार्ड डे शार्डां नामक फ्रेंच विद्वान् ने अपने The phenomenon of man नामक ग्रन्थ में मनुष्य के जीवन को समझने के लिए पशु और मनुष्य के अन्तर को समझना चाहा है। वे वैज्ञानिक थे, इसलिए वैज्ञानिक प्रणाली से वे पशु और मनुष्य के अन्तर को जानना चाहते थे। प्रयोगों से उन्होंने देखा कि जहाँ तक चमड़ी, रक्त, मेदा, हड्डी, माँस आदि का प्रश्न है, पशु और मनुष्य में कोई भेद नहीं है। पर उन्हें एक अन्तर यह दिखा कि मनुष्य के भेजे में कुछ जीवाणुकोष ऐसे हैं, जो सक्रिय हैं: जबकि पशु के भेजे में वे सक्रिय नहीं हैं। जानने की प्रक्रिया मनुष्य और पशु दोनों में समान है, पर मनुष्य के भेजे में जीवाणुकोष की सक्रियता के कारण मनुष्य और पशु में जो अन्तर पड़ता है, उसे उन्होंने यों व्यक्त किया है – "An animal knows and a man knows, but an animal does not know that he knows, while a man knows that he knows." – अर्थात् ''पशु भी जानता है और मनुष्य भी जानता है, पर पशु यह नहीं जानता कि वह जानता है, जबकि मनुष्य यह जानता है कि वह जानता है।''

तात्पर्य यह कि पशु को अपने ज्ञान का बोध नहीं होता, जबकि मनुष्य को अपने ज्ञान का बोध होता है, मनुष्य जानता है कि वह जान रहा है। इसलिए मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों को सुशृखल बना ले सकता है और उनकी सार्थकता के सम्बन्ध में प्रश्न कर सकता है। शार्डां यह विश्लेषण करके अन्त में पशु और मनुष्य का अन्तर स्थापित करते हुए कहते हैं कि पशु कभी भी अपने आपसे यह नहीं पूछता कि मेरे जीवन का क्या प्रयोजन है, जबकि मनुष्य कभी-न-कभी अपने आपसे यह अवश्य पूछता है कि मेरे जीवन का क्या प्रयोजन है।

पशु और मनुष्य के इसी अन्तर को एक संस्कृत सुभाषित में प्रकारान्तर से रखते हुए कहा गया है –

आहारनिद्राभय मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
एको हि तेषां धर्मो विशेषः
तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः ।।

– अर्थात् ''जहाँ तक भोजन, निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियों का प्रश्न है, ये जैसे मनुष्य में है, वैसे ही पशु में भी। मनुष्य में एक 'धर्म' की वृत्ति अधिक होती है। मनुष्य यदि उससे हीन हो, तो यर्थाथतः वह पशु के ही समान है।''

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन की विशेषता 'धर्म' में है। अब प्रश्न उठता है कि यह 'धर्म' क्या है? स्वामी विवेकानन्द की धर्म सम्बन्धी व्याख्या मननीय है। वे कहते हैं – "Religion is the manifestation of the divinity already in man." - अर्थात् ''मनुष्य में पहले से विद्यमान दिव्यत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं।'' स्वामीजी का एक दूसरा उद्धरण भी इस सन्दर्भ में विचारणीय है, जहाँ उन्होंने कहा है – "Each soul is potentially divine, the goal is to manifest this Divinity within, by controlling nature external and internal." - अर्थात् ''प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एव अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।''

अब हम समझ पाएँगे कि जीवन को सार्थक कैसे किया जाय। हम जितनी मात्रा में अपने इस अन्तःस्थ दिव्यत्व या ब्रह्मभाव को अभिव्यक्त करने में समर्थ होंगे, हमारा जीवन उतनी ही मात्रा में सार्थक होगा। इसके लिए सबसे सक्षम उपाय है - दूसरों का दुःख-दर्द अनुभव कर उनके लिए जीने की चेष्टा करना। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे - 'जो अपने लिए जीता है, उसमें कोई विशेषता नहीं, क्योंकि पशु भी तो अपने लिए जीते हैं। वास्तव में वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं।' अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जो जितनी मात्रा में दूसरों के लिए जीता है, उसका जीवन उतनी ही मात्रा में सार्थक होता है।

❑❑❑

जीने की कला (३)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में दो भागों में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। उक्त पुस्तक के प्रथम भाग के अनुवाद का प्रकाशन पूरा हो चुका है और अब प्रस्तुत है उसका दूसरा भाग। इस लेखमाला का सुललित अनुवाद किया है श्री रामकुमार गौड़ ने, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

दुःख के प्रति हमारी प्रतिक्रिया

कठिनाइयाँ आने पर हर व्यक्ति एक समान प्रतिक्रिया नहीं करता। कुछ लोग शान्ति, साहस तथा प्रशान्त चित्त के साथ दु:खों को सहते हुए जीवन का सामना करते हैं। किसी प्रियजन के बिछोह आदि कुछ घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ हर व्यक्ति के जीवन में अपरिहार्य रूप से आती हैं।

पति या पत्नी में से किसी एक का देहान्त हो जाने पर बचे हुए जीवन-साथी के लिए बीमारी या मृत्यु की सम्भावना दस फीसदी बढ़ जाती है। एक साथ रहनेवाले दम्पति की अपेक्षा तलाकशुदा पतियों या पत्नियों में बीमारियाँ बारह गुना अधिक पायी जाती हैं। दुरवस्था, असहायता व निराशा से पीड़ितों की शारीरिक बीमारियों में अस्सी प्रतिशत तक की वृद्धि हो जाती है। उनकी पीड़ा की निचली सीमा में भी गिरावट आती है।

दु:ख और कष्ट प्रत्येक मनुष्य के जीवन का एक अपरिहार्य अंग है। परन्तु कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जो समुचित दृष्टिकोण प्रार्थना और सत्संग की सहायता से ऐसी स्थितियों का प्रभावी रूप से सामना करके शरीर तथा मन पर पड़नेवाले उसके दुष्प्रभावों को कम करने में समर्थ होते हैं।

तथापि ऐसी संकटपूर्ण स्थितियों से सामना होने पर हममें से अधिकांश लोगों का मानसिक सन्तुलन विक्षुब्ध हो जाता है। तब दुर्बलमना लोग तात्कालिक रूप से अपने दु:ख को भुलाने हेतु सुरा या मादक द्रव्यों का सहारा लेते हैं। वस्तुत: इससे वे और अधिक दुर्बल बनते जाते हैं। आत्महत्या अथवा इसके लिए प्रयास करने वाले लोग उससे भी अधिक दुर्बलतर होते है। इनमें से कोई भी उपाय हमें भय, क्रोध या चिन्ता से मुक्त नहीं कर सकता। तो फिर, क्रोध, भय तथा चिन्ता के इस पाश से निकलने का क्या उपाय है?

अटल, अपरिहार्य

हर व्यक्ति के जीवन में कुछ अपरिहार्य घटनाएँ होती हैं। कुछ घटनाएँ प्रत्याशित और बिल्कुल ही अप्रत्याशित ढंग से हो जाती हैं। हममे से अधिकांश लोग अटल एवं अपरिहार्य घटनाओं का सामना तथा उनसे तालमेल बैठाना नही जानते।

मनुष्य को नि:सन्देह आशावादी होना चाहिए। उसे दुर्भाग्य की आशंका मे अवसादग्रस्त होने की कतई जरूरत नहीं है। पर जीवन में सब कुछ परिवर्तन या विनाश के भय से रहित सुचारु ढंग से चलता ही रहेगा – ऐसा विश्वास क्या एक भ्रामक विचार मात्र नहीं होगा? केवल कल्पना जगत् में ही ऐसी पूर्ण निरापद अवस्था का अस्तित्व हो सकता है।

प्राय: युवावस्था में ही, सबल शरीर तथा प्रबल आत्मविश्वास रहने पर व्यक्ति प्राय: हवाई किले बनाता रहता है तथा पूर्णता के सपने देखता है। पर क्रमश: विफलता, आत्मसंशय तथा दूसरों से प्रतिरोध का सामना होने पर असहायता तथा अभाव-बोध के कारण उसके पाँवों के नीचे की धरती खिसकने लगती है। इन समस्याओं में पड़कर व्यक्ति न तो सम्यक् चिन्तन कर पाता है, न दूसरों से सलाह ले पाता है और न ही चिन्ताओं से राहत प्राप्त कर पाता है। इसलिये अपरिहार्य स्थितियों का सामना करने हेतु मन की समुचित तैयारी आवश्यक है।

आकाश सहसा काले मेघों से आच्छन्न हो सकता है और क्षण भर में ही गरज-तरज के साथ भारी वर्षा हो सकती है। क्या हम कभी वर्षा को रोक सकते हैं? भीगने से बचने हेतु हमें अपने सिर पर छत और बाहर जाने पर छाते की व्यवस्था करनी होगी। वन-पथ पर विचरण करते समय हम उसे कंकड़ों तथा कँटीली झाड़ियों से पूर्णतया मुक्त नहीं कर सकते, अत: पैरों में काँटों की चुभन से बचने के लिये हमें जूते पहन लेने होंगे। हम जीवन की कठिनाइयों, विफलताओं, अभावों, दुर्भाग्यों तथा पतनों को नापसन्द कर सकते हैं, परन्तु हम उनसे बच नहीं सकते।

उनका सामना करने के लिये हमें समुचित ढंग से प्रशिक्षित होने की जरूरत है। हमें समस्या के मूल तक जाना होगा। सर्वोपरि हमें अपने मन पर नियंत्रण तथा समस्याओं का शान्त भाव से, साहस के साथ डटकर मुकाबला करने हेतु जीवन के नियमों और सिद्धान्तों को भी समझ लेना होगा।

अपने मन को शान्त रखने के इच्छुक लोगों को सावधानी के साथ अनावश्यक समस्याओं से बचना चाहिए। अटल व अपरिहार्य समस्याओ का सामना करते समय अंगुत्तर-निकाय में उल्लिखित गौतम बुद्ध के निम्न वचन बड़े सहायक हैं –

"प्रिय भिक्षुओ! गृहस्थो, भिक्षुओ तथा नर-नारी सभी को अधोलिखित पाँच बातें सदा-सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए –

१. वृद्धावस्था अपरिहार्य है, अटल है। इससे बचा नहीं जा सकता।

२. कभी कभी हम बीमार भी पड़ जाते हैं। यथासाध्य प्रयास करके भी हम इससे पूरी तौर से मुक्त नहीं हो सकते।

३. मनुष्य को एक-न-एक दिन अवश्य मरना होगा। इससे बचा नहीं जा सकता। कोई व्यक्ति बड़े सहज भाव से दूसरों को परामर्श दे सकता है – "चिन्ता की क्या बात? मृत्यु के आने पर उसे देख लिया जायेगा।" परन्तु इस शिक्षा का पालन आसान नही है।

४. हमारे सभी प्रियतम चीजों में परिवर्तन, ह्रास, नाश तथा वियोग अवश्यम्भावी है। हम इससे बच नहीं सकते।

५. हमारे विचार तथा भाव ही हमारे जीवन को आकार देते हैं। हमें अपने भले-बुरे कर्मों का फल अवश्य चखना होगा।

प्रिय भिक्षुओ

वृद्धावस्था का चिन्तन करने से युवावस्था का दर्प भले ही पूर्णतया नष्ट न हो, परन्तु कुछ कम तो अवश्य हो जायेगा।

बीमारी और रोगजन्य असह्ययता का चिन्तन करने से हमारे स्वास्थ्य का गर्व चला जाता है अथवा कुछ हद तक घट अवश्य जाता है। मृत्यु का चिन्तन और अनुशीलन करने से हमारा गर्व या जीवन के प्रति आसक्ति चली जाती है अथवा कम तो अवश्य ही हो जाती है।

अपनी प्रिय चीजों में परिवर्तन व वियोग पर चिन्तन से हमारा लोभ चला जाता है या घट तो अवश्य ही जाता है।

जब मैं अनुभव करने लगता हूँ कि अपनी वर्तमान अवस्था के लिये मैं ही उत्तरदायी हूँ तथा मैं ही अपना भाग्य-निर्माता हूँ, तो बुरे विचार तथा कर्म की प्रवृत्तियाँ घट जाती हैं।

इन पाँचों बातों का चिन्तन करते करते मनुष्य का अहंकार चला जाता है। वह लोभ व दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त होकर अध्यात्म-पथ पर आगे बढ़ने में समर्थ हो जाता है। तब, वह अटल व अपरिहार्य का सामना करने हेतु मनोबल प्राप्त कर लेता है।

जब ज्ञानालोक का उदय होता है

यह समझ पाना कठिन बात नहीं है कि एक अज्ञात शक्ति इस संसार को चलाती है। पर हम प्राय: उसकी अनदेखी करते रहते हैं। हम अपने जन्म के पूर्व और मृत्यु के बाद की बातें नहीं जानते। हम अपने सुख व दु:ख के कारणों को भी नहीं जानते। हम यह भी नहीं जानते कि इस पृथ्वी के सभी प्राणी कुछ सूक्ष्म नियमों द्वारा संचालित होते हैं। हम सोचते हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु के बीच की अवधि ही महत्वपूर्ण है। परन्तु क्या हमारे साधारण ज्ञान के द्वारा जीवन में आनेवाली जटिल समस्याओं का समाधान ढूँढ़ पाना सम्भव है?

ज्ञानक्षेत्र के विस्तृत तथा गहन होने पर हम सहज भाव से उस पथ की झलक पा लेते हैं, जिससे जीवन की अटल व अपरिहार्य समस्याओं का सामना किया जा सकता है।

अज्ञान ही समस्त दु:खों का मूल कारण है। अज्ञान के दूर हो जाने पर मन स्वच्छतर तथा दृढ़तर होता जाता है। हमारे कई बुजुर्गों का दृढ़ विश्वास था कि वे शरीर नहीं बल्कि शरीर के निवासी (आत्मा) थे। वे लोग मृत्यु की समस्या का कैसे सामना करते थे, महान् कन्नड़-लेखक एम.वी.अयंगार ने एक उदाहरण के साथ बताया है – "मेरे सुपरिचित एक संभ्रान्त बुजुर्ग सज्जन जीवन की अन्तिम साँसे गिन रहे थे। सम्भवत: उनका जीवन केवल दो दिन ही शेष था। जब मैं उनके पास बैठा तो वे सज्जन बोले, "गजेन्द्र अभी मुक्त नहीं हुआ।" उनका अभिप्राय था कि उनकी आत्मा अब भी भौतिक शरीर मे आबद्ध है। उन वृद्ध व्यक्ति को मृत्यु उतनी भयावह नही लग रही थी। उन्हे ऐसा लगा था कि मृत्यु एक साधन थी, जिसके द्वारा उनके प्रभु उन्हें भौतिक शरीर के बन्धनों से मुक्त कर देंगे। वे शान्तिपूर्वक मृत्यु के क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे। सम्भवत: वे मृत्यु से मिलने को उत्सुक थे।

अपरिहार्य का सामना करने का उनका ढंग निराला था।

नेताओं की अज्ञानता

शायद ही कोई इन उदात्त मूल्यों को हमारी शिक्षा-प्रणाली या हमारे पारिवारिक या सामाजिक आचार-संहिता में जोड़ने की सोचता है। फिल्मों व नाटकों के निर्माता, लेखक, शिक्षक आदि भी ऐसे विचारों की परवाह नहीं करते। हमारे सुधारक तथा राजनेता सोचते हैं कि लोगों में आपसी उत्तेजना, क्रोध या घृणा फैलाये बिना कोई अच्छा सामाजिक कार्य हो ही नहीं सकता। शोषित और निर्बल वर्गों में यह भावना घर कर गयी लगती है कि सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से उन्नत लोगों पर हमला या निन्दा ही उनके लिए आशा की एकमात्र किरण है। सच्चे धर्माचार्य इस विषय में जनता का मार्गदर्शन कर सकते हैं। परन्तु तथाकथित धार्मिक लोग भी अपने राजनीतिक मित्रो की ही भाँति अपनी श्रेष्ठता की भावना से अभिभूत रहते हैं। वे अन्य मतों व पथों के अनुयाइयों की निन्दा करके समाज में असहिष्णुता एवं हिंसा फैलाते हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि सामान्य सरलमना ग्राम्य लोगों की अपेक्षा तथाकथित शिक्षित लोग चिन्ता, भय तथा बेचैनी से अधिक ग्रस्त होते हैं।

उस ज्ञान तथा शिक्षा का उपयोग ही क्या है, जो हमारे अवसाद को दूर करने में मदद नही कर सकती और हममें जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण नहीं उत्पन्न कर सकती? क्या यह एक उचित प्रश्न नही है? यदि वे लोग हमें भला और सुखी जीवन जीने हेतु प्रेरित नहीं करते, तो कम-से-कम वे हमें उग्र उत्तेजना और ईर्ष्या की नाली में तो न गिराएँ।

इसका उत्तर यहाँ है

चाहे कोई शिक्षित हो या निरक्षर, धनी हो या गरीब, अन्तर्मुखी हो या बहिर्मुखी, विवाहित हो या अविवाहित और

चाह वह किसी भी धर्म या मत का अनुयायी हो – हर व्यक्ति अपने जीवन मे सुख और समृद्धि हेतु प्रयत्नशील है। हमारी समस्याएँ, चिन्ताएँ एवं व्यथाएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं, परन्तु अपने आन्तरिक संसाधनो से हमे उन पर विजय प्राप्त करना होगा। इस हेतु हमारे दृष्टिकोणो, चिन्तन-प्रणाली तथा आचरण मे बदलाव लाना आवश्यक है। घृणा, शिकायत, क्रोध और नकारात्मक दृष्टिकोण से तो हमारी समस्याएँ बदतर और दुर्जेय होती जाती हैं। सामाजिक समरसता से रहित स्वार्थपरता कभी भी शान्ति और सुख का मार्ग नहीं हो सकता। सद्‌गुणों के विकास तथा परिपक्वता के द्वारा ही व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं समाजिक समस्याओ का हल निकाला जा सकता है। जीवन को नियंत्रित करनेवाले सूक्ष्म नियमों में विश्वास; मन, आत्मा और जीवन-लक्ष्य के बारे में स्पष्ट समझ होना जरूरी है। धैर्य तथा अभ्यास से इन विषयो का गहनतर ज्ञान प्राप्त होता है। याद रहे कि दु:ख-कष्ट इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि हमारे पास क्या है, अपितु इस पर कि हम स्वयं क्या हैं।

मन की अथाह शक्ति

मन किसी रोग को पैदा कर सकता है या उसे ठीक भी कर सकता है। धैर्य, प्रेम, सहानुभूति, उदारता, नि:स्वार्थता आदि सकारात्मक गुण मानव-देह रूपी इस यंत्र के सभी अंगों को सुचारु, स्वस्थ तथा सुखद रूप से चलाते हैं। पर नकारात्मक विचारों से भय, चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या, निराशा और स्वार्थपरता का जन्म होता है, जो पूरे शरीर को प्रभावित करके उसे रोगोन्मुख कर देते हैं। तुम्हारे मन में यह बात दृढ़तापूर्वक अंकित हो जाय, इस हेतु मैं दुबारा कहता हूँ – मन किसी रोग को पैदा कर सकता है या उसे ठीक भी कर सकता है।

प्रसन्नता, शान्ति, साहस, आत्मविश्वास, संकल्प-शक्ति आदि सकारात्मक मानसिक अवस्थाएँ शरीर को स्वस्थ रखने में किसी भी टॉनिक से अधिक प्रभावकारी हैं।

महर्षि वशिष्ठ ने कहा था कि जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने लिए रेशम का कोआ बनाता है, उसी प्रकार मन भी अपनी आवश्यकता के अनुसार शरीर का गठन करता है।

ज्ञानियों का कहना है कि मन ही मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण है।

विष और अमृत – दोनों ही विचार नामक पदार्थ से उत्पन्न होते हैं। अनेक लोग जाने या अनजाने ही विष पैदा कर लेते हैं। तथाकथित बुद्धिमान भी इस मूर्खता में फँस जाते हैं। यदि हम मन के स्वभाव तथा उसकी कार्यप्रणाली को समझ लें, तो हम विष की जगह अमृत उत्पन्न कर सकते हैं। मन क्या है? पारिभाषिक जटिलताओं में न जाकर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि मन एक ऐसी शक्ति है, जिसमें असंख्य विचार, भावनाएँ, कल्पनाएँ और संकल्प; संक्षेप में कहें तो इच्छा, क्रिया और ज्ञान निहित रहते हैं। यह एक सूक्ष्म और जटिल शक्ति है, जो हमारे व्यक्तित्व को आकार देती है। इस शक्ति की मदद से हम अपने भाग्य को रूपायित करते हैं। हमारे सारे कर्म तथा उपलब्धियाँ मन में निहित भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं के ही परिणाम हैं। एक प्रसिद्ध विचारक कहते हैं, "यदि तुम एक माह तक रोजाना पाँच बार अपने विचारों का परीक्षण करो, तो पता चलेगा कि तुम किस प्रकार अपने भविष्य का गठन कर चुके हो। यदि तुम अपने मन में चलनेवाली कुछ बातों को पसन्द नहीं करते, तो बेहतर होगा कि आज से ही उन विचारों तथा भावनाओं में बदलाव लाना आरम्भ कर दो।" अत: हमें अपने विचारों की दिशा में परिवर्तन लाने का प्रयास करना चाहिये। हमें अपने सभी विचारों और प्रयासों को जीवन के सम्मुख स्थापित उच्च आदर्शों के रूपायन में लगा देना चाहिए।

आजकल कंप्यूटर अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे हैं। हमारा मन भी प्रकृति का एक अद्‌भुत उपहार है और यह कंप्यूटर से भी अधिक उपयोगी है। यदि हम मन में स्वस्थ एवं उदात्त विचारों तथा भावों को भरते रहें, तो इसके फलस्वरूप हमें प्रसन्नता, शान्ति एवं सन्तोष की प्राप्ति हो सकती है। लोग इस ओर ज्यादा ध्यान नहीं देते हैं। हमें ब्रह्माण्ड में एक व्यवस्था दीख पड़ती है, जिसे वेदों में **ऋत** कहा गया है। ब्रह्माण्ड की सारी चीजों को यह **ऋत** ही नियंत्रित करता है। सूर्य, चन्द्र, तारे, ग्रह सभी आकाश में घूम रहे हैं। दिन और रात तथा विभिन्न मौसम आते-जाते रहते हैं। इन सबके पीछे एक सूक्ष्म व्यवस्था है। यह सुव्यवस्था केवल बाह्य जगत् में ही नहीं है, हम इसे अन्तर्जगत् में भी पाते हैं। दिल की धड़कन, श्वसन, रक्तसंचार, निद्रा तथा जागृति – सभी एक सुसंगत प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं। एक उच्चतर नियम भी है, जो मनुष्य के सुख और दु:ख को नियंत्रित करता है। हर सफलता के पीछे अनुशासन और व्यवस्था होती है। हमारा जीवन अनुशासित एवं व्यवस्थित ढंग मे संचालित होना चाहिए। मानव-मन रूपी प्रकृति-प्रदत्त इस कंप्यूटर को अधिक उपयोगी बनाने के लिये इसमें निष्पक्ष निरीक्षण, नि:स्वार्थ दृष्टिकोण, लक्ष्योन्मुख प्रयास और आनन्द के भाव भर देने चाहिए। परन्तु इसमें आलस्य, लापरवाही, एकाग्रता का अभाव, क्रोध और पूर्वाग्रहग्रस्त विचारों को भरने से यह बेकार हो जाता है। अत: मन में भरे जानेवाले विचारों तथा भावों के बारे में हमें बहुत सावधान रहना चाहिए।

कालजयी सरल उपचार

'एडगर कैसी रीडर' ग्रन्थ के 'हेल्थ इन योर डिजाइन' (आपकी स्वास्थ्य-योजना) अध्याय से डॉ. रॉय कर्कलैण्ड द्वारा दिये गये उद्धरण के अनुसार रोगों को दूर करने के कुछ प्राचीन और आजमाये हुए सरल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं –

१. संसार के सभी प्राणियों के प्रति सहानुभूति, प्रेम तथा कल्याण का भाव रखने से मनुष्य आन्तरिक आनन्द तथा प्रसन्नता प्राप्त करता है और इससे शरीर में सभी पाचक एंजाइमों के उचित एवं निर्बाध निस्सरण में सहायता मिलती है और व्यक्ति उनसे सम्बन्धित रोगों से मुक्त हो जाता है।

२. नि:स्वार्थता, कर्तव्य-परायणता एवं हार्दिक उदारता के भाव विकसित करके व्यक्ति शारीरिक रूप से सबल और मानसिक रूप से स्थिरता की उपलब्धि करता है और तब उसके बारम्बार बीमार पड़ने की सम्भावना नहीं रह जाती।

३. यदि कोई अहंकार त्यागकर मैत्री-भाव अपना ले और प्रसन्न रहने का अभ्यास करते हुए आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़े, तो वह आपसी घृणा-द्वेष के घावों को भर सकता है।

४. सहायता, उदारता, सहयोग के सद्गुणों को आत्मसात् करने से व्यक्ति को आन्तरिक सामंजस्य का भाव प्राप्त होता है, जिससे उसकी नसों तथा मांसपेशियों को राहत मिलती है। इससे जोड़ों की कठोरता चली जाती है और मनुष्य को शारीरिक और मानसिक ताजगी का अनुभव होता है।

५. यदि हम दूसरों के प्रति आत्मीयता एवं विश्वबन्धुत्व के भाव को अपने रग रग में आत्मसात् कर लें, तो चोरी-डकैती, हत्या, अन्याय और आदर्शों का अवमूल्यन रुक जायेंगे।

६. धैर्य ही लाभकारी है – इस सिद्धान्त को अंगीकार करके यदि हम धैर्य और सहनशीलता के सद्गुणों का विकास करें, तो हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है, जीवन प्राणवन्त हो जाता है और धरती स्वर्ग में परिणत हो जाती है।

७. 'बातें कम, काम ज्यादा' – की नीति का पालन करने वाले जो लोग अनावश्यक वार्तालाप और व्यर्थ की चीजों से विरत रहकर सद्भाव के साथ अपने कर्तव्य में लगे रहते हैं, उन्हें किसी अस्पताल में रोगी बनकर बिस्तर पर लेटे रहने की नौबत नहीं आती। उनके लिये सुखी जीवन कोरा दिवास्वप्न नहीं, बल्कि एक वास्तविकता बन जाता है।

८. उचित निर्णय और विवेक से हमें प्रतिकूल तथा अदम्य परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

९. नियमित प्रार्थना शारीरिक स्वास्थ्य का मार्ग प्रशस्त करती है। यह व्यक्ति के भीतर शक्ति और आत्मविश्वास का अजस्र स्रोत खोल देती है। फिर ऐसे लोग इस शक्ति और उत्साह को दूसरों में संचारित करने हेतु प्रेरित होते हैं।

तुमने शिवलिंग देखा होगा। इसके ऊपर एक घड़े से धीरे धीरे पवित्र जल गिरता रहता है। ठीक वैसे ही अध्यवसाय के द्वारा जब हम अपनी भावनाओं को प्रशमित करने में समर्थ हो जायेंगे, तो हमारा मन सर्वदा प्रसन्न रहेगा और एक प्रसन्न मन किसी भी औषधि की अपेक्षा बेहतर स्वास्थ्य प्रदान कर सकता है। औषधियों के सेवन से कुछ अप्रिय, प्रतिकूल प्रभाव की सम्भावना हो सकती है, परन्तु सद्भावनाओं के विकास से स्वास्थ्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

❖ (क्रमशः) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (२३)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते है कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातको तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यो का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

भविष्यवक्ता का भाग्य

एक ज्योतिषी बाजार में बैठा वहाँ आने-जाने वाले लोगों के भाग्य बता रहा था। सहसा एक व्यक्ति बड़ी तेजी से दौड़ते हुए वहाँ आ पहुँचा। उसने ज्योतिषी को बताया कि चोरों ने उसके घर के दरवाजे तोड़ दिये हैं और वे उसका सारा सामान उठाकर ले जा रहे हैं। ज्योतिषी ने लम्बी साँस ली और जितनी तेजी से हो सका, अपने घर की ओर दौड़ पड़ा। एक पड़ोसी ने उसे इस प्रकार दौड़ते हुए देखा और कहने लगा, "ओह, तो तुम्हारा दावा है कि तुम सबके भाग्य पहले से ही बता सकते हो; परन्तु तुम अपना भाग्य पहले से ही क्यों नहीं देख सके?"

बन्दरों के देश में दो यात्री

दो यात्री एक साथ यात्रा करते हुए संयोगवश बन्दरों के देश में जा पहुँचे। दोनो यात्रियों में से एक सदा सत्य बोलता था और दूसरा केवल झूठ। बन्दरों के राजा ने उन्हें पकड़वा कर अपने पास बुलवाया और उनसे यह जानना चाहा कि मनुष्यो में उसके बारे में क्या धारणा है। उसने यह भी आदेश दिया कि उसके दाये तथा बायें बन्दरों को कतार में सजा दिया जाय और बीच में उसके लिए सिंहासन रख दिया जाय। तैयारी हो जाने के बाद उसने दोनो मनुष्यों को अपने सामने लाने का आदेश दिया।

आने पर उनका स्वागत करते हुए कपिराज ने पूछा, "हे यात्रियो, मै किस तरह का राजा प्रतीत होता हूँ?" झूठ बोलनेवाला यात्री बोला, "आप तो मुझे सबसे शक्तिशाली महाराजा प्रतीत होते हैं।" फिर पूछा गया, "और इन लोगो के बारे में तुम्हारा क्या मत है, जो मेरे चारों ओर खड़े हैं?" उसने उत्तर दिया, "ये आपके सुयोग्य साथी हैं और कम-से-कम राजदूत या सेनापति बनाये जाने के सर्वथा योग्य है।" बन्दर तथा उसके सारे दरबारियों ने इन झूठी बातों पर प्रसन्न होकर उसे एक अच्छा उपहार देने का निर्णय किया।

इस पर सत्यवादी यात्री ने सोचा, "यदि झूठ बोलने पर इतना महान् पुरस्कार दिया जाता है, तो यदि मैं अपने नियम के अनुसार सत्य बोलूँ, तो मुझे कितना बड़ा पुरस्कार मिलेगा?"

बन्दर-राजा ने सहसा उसकी ओर मुड़कर पूछा, "महाशय, मैं और मेरे ये मित्र आपको कैसे लगते हैं?" उसने उत्तर दिया, "आप एक बन्दर, पर अति उत्तम बन्दर हैं और आपका अनुसरण करनेवाले ये संगी भी अच्छे बन्दर हैं।" इस सत्य को सुनकर बन्दरों का राजा आगबबूला हो उठा और उसे मजा चखाने के लिए अपने संगियों के हवाले कर दिया।

कटु सत्य बोलना सर्वदा लाभकारी नहीं होता।

खरगोश और सिंह

जंगल के सभी पशुओं की सभा में खरगोशों ने बड़ा लम्बा-चौड़ा तथा उग्र भाषण देते हुए कहा कि प्रत्येक जानवर को समान दृष्टि से देखा जाना चाहिए। उत्तर में वनराज सिंह ने कहा, "खरगोश भाइयो, तुम्हारी बातें तो बड़ी अच्छी हैं, परन्तु उनमें हमारे समान पंजों तथा दाँतों की कमी है।"

बिल्ली और चूहा

एक बिल्ली बुढ़ापे तथा दुर्बलता के कारण अब पहले के समान चूहों को नहीं पकड़ पाती थी। भूख से त्रस्त होकर और पेट भरने का दूसरा कोई उपाय न देख वह कमरे के फर्श पर एक अँधेरे कोने में पसरकर लेट गयी। उसे खाने की कोई चीज समझकर एक चूहा उछलकर उस पर चढ़ गया। बिल्ली ने उसे तत्काल पकड़कर उसका काम तमाम कर दिया। दूसरे, तीसरे और इसी प्रकार अनेक चूहों की एक ही गति हुई। अनेक प्रकार के संकटों से बचते हुए वृद्ध हुआ एक चूहा सुरक्षित दूरी से ही अपनी शत्रु की चालाकी देखकर बोला, "ओह, वहाँ पड़ी हुई तुम जिस मुर्दे का अभिनय कर रही हो, उसी में परिणत हो जाओ तो अच्छा हो।"

गधा और भेड़िया

मैदान में घास चरते हुए एक गधे ने देखा कि एक भेड़िया उसे पकड़ने के लिए उसी ओर चला आ रहा है। प्राण के भय से तत्काल उसके मन में एक युक्ति आयी और वह लँगड़ाते हुए चलने लगा। भेड़िये ने निकट आकर उसके लँगड़ाने का कारण पूछा। गधे ने बताया कि एक झाड़ी से होकर गुजरते समय उसका पाँव एक नुकीले काँटे पर पड़ गया था और उसके चुभ कर भीतर टूट जाने के कारण ही उसकी यह दशा हुई है। उसने भेड़िये से कहा, "अच्छा तो यह होगा कि पहले तुम मेरे पाँव से यह काँटा निकाल दो; नहीं तो मुझे खाते समय यह तुम्हारे गले में फँसकर हमेशा के लिए मुश्किल पैदा कर सकता है।" भेड़िया राजी हो गया। गधे ने अपना पिछला पाँव उठाया और भेड़िया पूरी एकाग्रता के साथ उसमें काँटे की खोज करने लगा। गधे ने मौका देखकर भेड़िये के मुख पर एक दुलत्ती झाड़ी और उसके दाँतों को तोड़ते हुए

छलाँगे लगाते हुए भाग निकला। चोट खाकर भेड़िया बेहोश हो गया। फिर होश में आने के बाद वह पश्चाताप करते हुए कहने लगा, "मुझे जो सजा मिली है, वह उचित ही है; क्योंकि जब मेरे पिता ने मुझे केवल कसाई का ही काम सिखाया था, तो फिर मुझे चिकित्सक बनने का प्रयास करने की क्या जरूरत थी!"

व्यक्ति और उसकी पत्नी

एक व्यक्ति की पत्नी को उसके परिवार में कोई भी पसन्द नहीं करता था। व्यक्ति के मन में जिज्ञासा हुई कि क्या उसके मायके के भी सभी लोग उसे नहीं चाहते? उसने कोई बहाना बनाकर अपनी पत्नी को उसके पिता के घर भेज दिया। थोड़ी दिनों के बाद उसके लौट आने के बाद पति ने पूछा कि मायके में उसे कैसा लगा और नौकरों ने उसके साथ कैसा व्यवहार किया? उसने उत्तर दिया, "चरवाहे तथा गड़ेरिए मेरी ओर अरुचि की दृष्टि से देखा करते थे।" वह बोला, "प्रिये, जो लोग सुबह होते ही पशुओं को लेकर बाहर चले जाते हैं और रात होने तक लौटते हैं, वे भी जब तुम्हें नहीं पसन्द करते हैं, तो फिर सोचकर देखो कि उन लोगों की क्या हालत होती होगी, जिनके साथ तुम सारा दिन बिताया करती हो!"

मूर्तियों का विक्रेता

एक व्यक्ति ने लकड़ी को तराशकर मंगल देवता की एक मूर्ति बनायी और उसे बेचने का प्रयास करने लगा। खरीदारों को आकृष्ट करने के लिए वह जोर जोर से आवाज देने लगा कि वह धन के देवता की मूर्ति बेच रहा है और इन्हें घर में रखकर आराधना करने से आदमी समृद्ध हो सकता है। निकट ही खड़ा एक व्यक्ति कहने लगा, "भलेमानुष, तुम इतने गुणों से युक्त मूर्ति को क्यों बेच डालना चाहते हो? तुम स्वयं ही इन्हें रखकर धनी क्यों नहीं बन जाते?" मूर्तिकार बोला, "मुझे अपना पेट भरने के लिए तत्काल धन की आवश्यकता है, जबकि ये देवता धीरे धीरे ही अच्छी चीजें देते हैं।"

मोर और सरस्वती देवी

एक मोर ने देवी सरस्वती से शिकायत की कि कोयल अपना मुख खोलकर गाना शुरू करते ही सबका मन मोह लेती है, जबकि उसका गाना सुनते ही लोग हँसना आरम्भ कर देते हैं। देवी ने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा, "परन्तु आकार तथा सौन्दर्य में तो तुम उससे काफी बढ़-चढ़कर हो। तुम्हारे गरदन में नीलम की सी चमक है और तुम्हारे पंख तथा पूँछ इतने रंग-बिरंगे तथा भव्य हैं।" मोर ने कहा, "परन्तु जब तक मैं गाने में उत्कृष्ट नहीं हूँ, तब तक यह गूँगा सौन्दर्य मेरे किस काम का!" देवी ने उत्तर दिया, "विधाता ने प्रत्येक प्राणी के लिए उसका भाग्य निर्धारित कर दिया है; तुमको सौन्दर्य मिला है, गरुड़ को शक्ति मिली है, कोयल को सुकण्ठ मिला है और कौए को शगुन का आभास देने की क्षमता मिली है। ये सभी पक्षी अपनी अपनी प्राप्ति से सन्तुष्ट हैं।

सबमें सारे गुण नहीं मिल सकते। परन्तु लोगों को प्राय: अपने गुण निकृष्ट और दूसरों के उत्कृष्ट प्रतीत होते हैं।

बुलबुल और बाज

एक बुलबुल एक ऊँचे वृक्ष की डाल पर बैठी अपनी धुन में गाये जा रही थी। एक भूखे बाज ने उसे देखा और झपटकर उसे पकड़ लिया। अपना प्राण संकट में देखकर कोयल ने अति विनयपूर्वक बाज से कहा, "मैं तो एक छोटी-सी चिड़िया हूँ, जिसे खाकर तुम्हारी भूख नहीं मिट सकेगी। अपनी भूख मिटाने के लिए तो तुम्हें बड़े पक्षियों को पकड़ना चाहिए।" बाज ने बीच में ही टोकते हुए कहा, "जो पक्षी कहीं दिखाई ही नहीं दे रहे हैं, उनकी आशा में यदि मैं अपने हाथ में आये हुए भोजन को छोड़ दूँ, तो फिर सचमुच ही मेरे जैसा पागल कौन होगा!"

बकरा और गधा

एक किसान के पास एक बकरा और एक गधा था। गधा काफी मेहनत करता था और उसे खाने को भी खूब मिलता था। बकरा उसके भाग्य को देख-देखकर कुढ़ता रहता था। ईर्ष्या से अभिभूत एक दिन वह गधे से कहने लगा, "धिक्कार है तुम्हे, कभी तुम हल में जुते रहते हो, तो कभी बोझ ढोते रहते हो। तुम्हे थोड़ा आराम भी तो करना चाहिए।" इसके बाद बकरे ने उसे सलाह दी, "एक दिन तुम मूर्छित होने का अभिनय करके किसी गड्ढे में गिर जाओ, तो तुम्हें आराम मिल जायेगा।" गधे तो गधा ही था न, उसने बकरे की बात मान ली। वह जान-बूझकर एक गड्ढे में गिर पड़ा और इससे उसे काफी चोट आयी। किसान ने चिन्तित होकर चिकित्सक को बुला भेजा। चिकित्सक ने सलाह दी कि गधे का घाव ठीक करने के लिए उस पर बकरे के कलेजे का खून डालकर पट्टी बाँधना होगा। उन दोनो ने मिलकर तत्काल बकरे का काम तमाम कर डाला और इस प्रकार गधे की चिकित्सा हुई।

ईर्ष्या से प्रेरित होकर किये हुए कर्म का फल कभी अच्छा नहीं होता।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (११)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के महाराष्ट्र-भ्रमण का विस्तार से अवलोकन करते हुए पिछले अंक में हमने देखा कि स्वामीजी ने बेलगाँव में कुल मिलाकर लगभग १२ दिनो तक निवास किया था, वर्तमान अंक में हम प्रस्तुत कर रहे हैं वहीं के बाकी रोचक संस्मरण। – सं.)

हरिपद मित्र के संस्मरण

श्री भाटे के घर निवास करते समय ही स्वामीजी का वहाँ के वन अधिकारी श्री हरिपद मित्र के साथ परिचय हुआ। बाद मे स्वामीजी उनके घर जाकर लगभग दस दिनों तक रहे भी। मित्र महाशय ने इस काल की घटनाओं को अपनी दैनन्दिनी में लिपिबद्ध कर लिया था और बाद में उसे बँगला में प्रकाशित भी कराया। उसके हिन्दी अनुवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण रोचक अंश इस प्रकार हैं –

बेलगाँव – १८ अक्तूबर, १८९२ ई., मंगलवार। सन्ध्या हुए लगभग दो घण्टे हुए हैं। एक स्थूलकाय प्रसन्नमुख युवा संन्यासी मेरे एक परिचित महाराष्ट्रीय वकील के साथ मेरे घर पर पधारे। मेरे वकील मित्र ने कहा, "ये एक विद्वान् बंगाली संन्यासी हैं, आपसे मिलने आये हैं।" मुड़कर देखा – प्रशान्त मूर्ति, नेत्रों से मानो विद्युत्प्रकाश निकल रहा हो, दाढ़ी-मूँछें मुड़ी हुई, शरीर पर गेरुआ अँगरखा, पैर में मरहठी चप्पल, सिर पर गेरुआ पगड़ी। संन्यासी की उस भव्य मूर्ति का स्मरण होने पर अब भी मानो उन्हें अपनी आँखो के समक्ष देखता हूँ। देखकर आनन्द हुआ और मैं उनकी ओर आकृष्ट भी हुआ।...

उस समय तक मेरा विश्वास था कि सभी गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासी पाखण्डी ही होते हैं। सोचा, ये भी कुछ आशा लेकर मेरे पास आये हैं। फिर वकील बाबू हैं महाराष्ट्रीय ब्राह्मण और ये ठहरे बंगाली! बंगालियों का महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के साथ मेल होना कठिन है; इसीलिये लगता है ये मेरे घर में रहने को आये हैं। मन में इस प्रकार अनेक संकल्प-विकल्प करके उन्हें अपने यहाँ ठहरने के लिए कहा और उनसे पूछा, "आपका सामान अपने यहाँ मँगवा लूँ?' उन्होंने कहा, 'मैं वकील बाबू के यहाँ अच्छी तरह हूँ। और बंगाली देखकर यदि मैं उनके यहाँ से चला आऊँ, तो उनके मन में दु:ख होगा, क्योंकि ये लोग बड़ी भक्ति और स्नेह करते हैं; अत: ठहरने-ठहराने के विषय में पीछे विचार किया जायेगा।" उस रात कोई अधिक बातचीत न हो सकी; किन्तु उन्होंने जो भी दो-चार बातें कहीं, उसी से भलीभाँति समझ में आ गया कि वे मेरी अपेक्षा हजार गुने अधिक विद्वान् तथा बुद्धिमान हैं; इच्छा मात्र से ही वे काफी धन उपार्जन कर सकते हैं, तथापि रुपये-पैसे छूते तक नहीं और सुखी होने के सब साधनो के न होते हुए भी मेरी अपेक्षा हजार गुना सुखी हैं। ... मेरे यहाँ नहीं रहेंगे, यह जानकर मैंने फिर कहा, "यदि चाय पीने में कोई आपत्ति न हो, तो कल प्रात:काल मेरे साथ चाय पीजिए; मुझे बड़ी खुशी होगी।" उन्होंने स्वीकृति दी और वकील बाबू के साथ उनके घर लौट गये। रात में बड़ी देर तक उनके विषय में सोचता रहा, मन में आया – ऐसा नि:स्पृह, चिरसुखी, सदा सन्तुष्ट, प्रफुल्लमुख व्यक्ति तो कभी देखा नहीं! ...

दूसरे दिन (१९ अक्तूबर को) प्रात:काल ६ बजे उठकर स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगा। देखते-ही-देखते आठ बज गये, किन्तु स्वामीजी दिखाई नही पड़े। आखिरकार अधीर होकर मैं अपने एक मित्र के साथ उनके निवास-स्थान की ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर देखा तो एक महासभा जुटी हुई है। स्वामीजी और उनके समीप अनेक प्रतिष्ठित वकील तथा विद्वान् लोग बैठे हैं, बातचीत हो रही है। स्वामीजी किसी को अंग्रेजी में, किसी को संस्कृत में और किसी को हिन्दी में, उनके प्रश्नों का तत्काल उत्तर दे रहे हैं। मेरे समान कोई कोई हक्सले के दर्शन को प्रमाणिक मानकर स्वामीजी के साथ तर्क करने को उद्यत है। परन्तु वे किसी को हँसी में, किसी को गम्भीर भाव से यथोचित उत्तर देकर सबको चुप किये दे रहे हैं। मैंने जाकर प्रणाम किया, एक ओर बैठ गया और अवाक् होकर सुनने लगा। सोचने लगा – ये मनुष्य हैं या देवता? ...

एक प्रतिष्ठित वकील ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, संध्या आदि आह्निक कृत्यों के मंत्र संस्कृत में हैं, हम लोग उन्हें समझ नहीं पाते। हमारे द्वारा इन मंत्रों की आवृत्ति का भी क्या कुछ फल है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "अवश्य, उत्तम फल है। ब्राह्मण की सन्तान होने के नाते इच्छा हो तो आप इन संस्कृत मंत्रों का अर्थ सहज ही समझ सकते हैं। फिर भी समझने का प्रयास नहीं करते, तो इसमें भला किसका दोष है! और यद्यपि आप मंत्रों का अर्थ नहीं समझते, तो भी जब आप संध्या-वन्दना आदि आह्निक कृत्य करने बैठते हैं, उस समय क्या सोचते हैं – धर्म-कर्म कर रहा हूँ, या फिर यह कि कोई पाप कर रहा हूँ? यदि आप धार्मिक कृत्य समझकर संध्या-वन्दन करने हों, तो उत्तम फल पाने के लिए इतना ही यथेष्ट है।" ...

इस प्रकार नौ बज गये। जिन लोगों को दफ्तर या कचहरी जाना था, वे सब चले गये। कोई कोई उस समय भी बैठे रहे। मेरे ऊपर दृष्टि पड़ते ही स्वामीजी को पिछले दिवस की चाय पीने जाने की बात याद आ गयी। वे बोले, "भाई, इतने लोगों का मन दुखाकर नहीं जा सकता था। कुछ बुरा मत

मानना।'' बाद में मैंने उनसे अपने निवास-स्थान पर रहने के लिए विशेष अनुरोध किया। इस पर वे बोले, ''मैं जिनका अतिथि हूँ, उन्हे यदि मना लो, तो मैं तुम्हारे ही पास रहने को तैयार हूँ।'' वकील महाशय को समझा-बुझाकर राजी करने के बाद स्वामीजी को साथ लिए मैं अपने घर आया। उनके साथ एक कमण्डलु और गेरुए वस्त्र में लिपटी हुई पुस्तक – बस इतना ही समान था। स्वामीजी उन दिनों फ्रांसीसी संगीत के विषय में एक पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे। घर आकर लगभग दस बजे चायपान हुआ; इसके बाद स्वामीजी ने एक गिलास ठण्डा जल भी मँगवाकर पीया। यह देखकर कि मुझे अपने मन की कठिन समस्याओं के बारे में पूछने का साहस नहीं हो रहा है, उन्होंने स्वयं ही मुझसे दो-चार बातें कीं, और उसी से मेरी विद्या-बुद्धि को नाप लिया। ...

''ईश्वर एक साथ ही न्यायवान और दयामय कैसे हो सकता है?'' – इस प्रश्न की मीमांसा ईसाई मिशनरियों से नहीं हो सकी थी। सोचा कि इस समस्या को स्वामीजी भी नहीं सुलझा सकते। मैंने यह प्रश्न स्वामीजी के सामने रखा। वे बोले, ''तुमने तो विज्ञान का काफी अध्ययन किया है। क्या प्रत्येक जड़ पदार्थ में केन्द्रप्रसारी तथा केन्द्रगामी – ये दो विपरीत शक्तियाँ कार्य नहीं करती! यदि दो विरुद्ध शक्तियों का जड़ पदार्थ में रहना सम्भव है, तो दया और न्याय आपस में विरुद्ध होते भी क्या ईश्वर में नहीं रह सकते? मैं इतना ही कह सकता हूँ कि अपने ईश्वर के सम्बन्ध में तुम्हारा ज्ञान नहीं के बराबर है।'' सुनकर मैं तो दंग रह गया। ...

''संन्यासी इस प्रकार आलसी होकर समय क्यों बिताते हैं? दूसरों की सहायता के ऊपर क्यों निर्भर रहते हैं और समाज के लिए कोई हितकर काम क्यों नहीं करते?'' इन प्रश्नों के उतर में स्वामीजी बोले, ''अच्छा बताओ तो, तुम इतने कष्ट से अर्थोपार्जन कर रहे हो! उसका बहुत थोड़ा-सा अंश केवल अपने लिए व्यय करते हो; शेष में से कुछ अंश दूसरों के लिए, जिन्हें तुम अपना समझते हो, व्यय करते हो। वे लोग उसके लिए न तो तुम्हारा उपकार ही मानते हैं और न उनके लिए जितना व्यय करते हो, उससे सन्तुष्ट ही होते हैं। जो रकम तुम कौड़ी कौड़ी जोड़े जा रहे हो, तुम्हारे मर जाने पर कोई दूसरा ही उसका भोग करेगा और यह भी सम्भव है कि वह यह कहकर गाली भी दे कि तुम अधिक रुपये नहीं छोड़ गये। ऐसा तो गया-गुजरा तुम्हारा हाल है। और मैं तो वैसा कुछ भी नहीं करता। भूख लगने से पेट पर हाथ रखकर, हाथ को मुँह के पास ले जाकर दिखला देता हूँ; जो पाता हूँ, खा लेता हूँ; कुछ भी कष्ट नहीं उठाता, कुछ भी संग्रह नहीं करता। हम दोनों में कौन बुद्धिमान है? तुम या मैं!''

मैंने स्वामीजी से पूछा, ''अच्छा स्वामीजी, सभी प्रश्नों के इस प्रकार सटीक उत्तर आप तत्काल किस प्रकार दे लेते हैं?''

वे बोले, ''ये सब प्रश्न तुम्हारे लिए नवीन हैं; पर मुझसे तो कितने ही लोग कितने ही बार ये प्रश्न पूछ चुके हैं और मैं कितनी ही बार इनका उत्तर दे चुका हूँ।''

रात में भोजन करते समय उन्होंने और भी अनेक बातें कहीं, पैसा न छूते हुए देश-भ्रमण करते करते कहाँ कैसी कैसी घटनाएँ हुई, उन सबका वर्णन करने लगे। सुनते सुनते मेरे मन में आया – अहा! इन्होंने न जाने कितना कष्ट, कितनी विपत्तियाँ सही हैं। किन्तु वे तो उन सब घटनाओं को इस प्रकार हँसते हँसते सुनाने लगे, मानो वे अत्यन्त मनोरंजक कहानियाँ हों। कहीं पर उनकी तीन दिन तक बिना कुछ खाये रहना, किसी स्थान पर मिर्च खाने के कारण पेट में ऐसी जलन होना, जो एक कटोरी इमली का पानी पीने पर भी शान्त नहीं हुई; कहीं पर 'यहाँ साधु-संन्यासियों को जगह नहीं है' – इस प्रकार झिड़के जाना; और कहीं खुफिया पुलिस की कड़ी नजर में रहना – आदि सब घटनाएँ, जिन्हें सुनकर हमारे शरीर का खून पानी हो जाय, उनके लिए तो मानो एक तमाशा थीं।

रात अधिक हुई देखकर उनके लिए सोने का प्रबन्ध करने के बाद मैं भी सोने को चला गया; पर रात में नींद नहीं आई। सोचने लगा – कैसा आश्चर्य, इतने वर्षों का दृढ़ सन्देह और अविश्वास स्वामीजी को देखकर और उनकी दो-चार बातें सुनकर ही दूर हो गया! ...

२० अक्तूबर, १८९२ ई.। ... इस शहर में आज उनका चौथा दिन है। पाँचवें दिन उन्होंने कहा, ''संन्यासियों को नगर में तीन दिन और गाँव में एक दिन से अधिक ठहरना उचित नहीं। मैं अब जल्दी चला जाना चाहता हूँ। परन्तु मैं किसी प्रकार उनकी वह बात मानने को राजी न था। ... फिर काफी वाद-विवाद के बाद वे बोले, ''एक स्थान में अधिक दिन रहने पर माया-ममता बढ़ जाती है। हम लोगों ने घर और सगे-सम्बन्धियों का परित्याग किया है, अत: जिन बातों से उस प्रकार की माया में मुग्ध होने की सम्भावना हो, उनसे दूर रहना ही हम लोगों के लिए अच्छा है।'' मैंने कहा, ''आप कभी भी मुग्ध होनेवाले नहीं हैं।'' उन्होंने मेरा अतिशय आग्रह देखकर आखिरकार और भी दो चार दिन ठहरना स्वीकार कर लिया।

इस बीच मेरे मन में आया कि यदि स्वामीजी सार्वजनिक व्याख्यान दें, तो हम लोग भी उसे सुनेंगे और दूसरों का भी कल्याण होगा। मैंने इसके लिए बहुत अनुरोध किया, परन्तु व्याख्यान देने पर शायद नाम-यश की स्पृहा जग उठे, ऐसा कहकर उन्होंने यह भी बात मुझे बतायी कि उन्हें सभा में प्रश्नों का उत्तर देने में कोई आपत्ति नहीं है। ...

एक दिन की बात है। स्वामीजी दोपहर में बिछौने पर लेटे हुए एक पुस्तक पढ़ रहे थे। मैं दूसरे कमरे में था। सहसा

स्वामीजी इतने जोर से हँस पड़े कि क्या हो गया – सोचकर मैं उनके कमरे के दरवाजे के पास जाकर खड़ा हो गया। देखा, बात कोई खास नहीं है। वे जैसे पुस्तक पढ़ रहे थे, वैसे ही पढ़ रहे हैं। लगभग पन्द्रह मिनट खड़ा रहा, तो भी उनका ध्यान मेरी ओर नहीं गया। पुस्तक के अतिरिक्त उनका ध्यान किसी दूसरी ओर नहीं था। कुछ देर बाद मुझे देखकर उन्होंने अन्दर आने के लिए कहा और मैं इतनी देर खड़ा हूँ सुनकर वे बोले, "जब जो काम करना हो, उसे पूरी लगन और शक्ति के साथ करना चाहिए। गाजीपुर के पवहारी बाबा ध्यान, जप, पूजा-पाठ जिस प्रकार एकाग्र चित्त से करते थे, उसी प्रकार वे अपने पीतल के लोटे को भी एकचित्त से माँजते थे। ऐसा माँजते थे कि सोने के समान चमकने लगता था।" ...

स्वामीजी कई बार हास-परिहास के माध्यम से विशेष शिक्षा दिया करते थे। वे गुरु थे, तथापि उनके पास बैठना मास्टर के पास बैठने के समान नहीं था। अभी खूब रंग-रस चल रहा है; बालक के समान हँसते हँसते हँसी के बहाने कितनी ही बातें कहे जा रहे हैं, सभी लोगों को हँसा रहे हैं; और दूसरे ही क्षण ऐसे गम्भीर होकर जटिल प्रश्नों की व्याख्या करना आरम्भ कर देते कि उपस्थित सभी लोग विस्मित होकर सोचने लगते – "इनके भीतर इतनी शक्ति! अभी तो देख रहे थे कि ये हमारे ही समान एक व्यक्ति हैं।"

लोग सभी समय उनके पास शिक्षा लेने के लिए आते। उनका द्वार सभी समय खुला रहता। दर्शनार्थियों में से अनेक भिन्न भिन्न उद्देश्य से भी आते ...। परन्तु उनमें ऐसी अद्‌भुत क्षमता थी कि कोई किसी भाव से भी क्यों न आये, वे उसे तत्काल समझ जाते थे और उसके साथ उसी तरह का व्यवहार करते थे। उनकी मर्मभेदी दृष्टि से किसी के लिए बचना या कुछ छिपाकर रखना सम्भव नहीं था। एक समय किसी प्रतिष्ठित धनी व्यक्ति का इकलौता पुत्र विश्वविद्यालय की परीक्षा से बचने के लिए बारम्बार स्वामीजी के पास आने लगा और साधु बनने की आकांक्षा व्यक्त करने लगा। वह मेरे एक मित्र का लड़का था। मैंने स्वामीजी से पूछा, "यह लड़का किस मतलब से इतना अधिक आता-जाता है? उसे क्या आप संन्यासी होने का उपदेश देंगे? उसका बाप मेरा मित्र है।"

स्वामीजी ने कहा, "वह केवल परीक्षा के भय से साधु होना चाहता है। मैंने उससे कहा है कि वह एम.ए. पास कर लेने के बाद साधु होने के लिये मेरे पास आये; साधु होने की अपेक्षा एम.ए. पास करना कहीं सरल है।" ...

इसके पहले मैंने भगवद्‌गीता पढ़ने की कई बार चेष्टा की थी; किन्तु समझ न सकने के कारण मैंने सोच लिया था कि उसमें समझने लायक वैसी कोई बड़ी बात नहीं है और उसे पढ़ना ही छोड़ दिया। एक दिन जब स्वामीजी गीता लेकर हम लोगों को समझाने लगे, तब ज्ञात हुआ कि वह कैसा अद्‌भुत ग्रंथ है! गीता के मर्म को समझना जिस प्रकार मैंने उनसे सीखा, उसी प्रकार दूसरी ओर जूल्स बर्न के वैज्ञानिक उपन्यास एवं कार्लाइल का 'सार्तोर रिजार्तस' पढ़ना भी उन्हीं से सीखा।

उन दिनों मैं स्वास्थ्य के लिए बहुत-सी औषधियों का सेवन किया करता था। इस बात का पता चलने पर एक दिन वे बोले, "जब देखो कि किसी रोग ने अत्यधिक प्रबल होकर बिस्तर पकड़ने को मजबूर कर दिया है, उठने की शक्ति नहीं रही, तभी औषधि का सेवन करना, अन्यथा नहीं। स्नायुओं की दुर्बलता आदि रोगों में से तो ९० प्रतिशत काल्पनिक हैं। इन सब रोगों से डॉक्टर लोग जितने लोगों को बचाते हैं, उससे अधिक को तो मार डालते हैं। फिर इस प्रकार सर्वदा 'रोग, रोग' करते रहने से क्या होगा? जितने दिन जियो, आनन्द से रहो। पर जिस आनन्द से एक बार कष्ट हो चुका है, उसके पीछे फिर कभी न दौड़ना।" ...

इस समय कुछ कारणों से अपने ऊपर के अफसरों के साथ मेरी बनती नहीं थी। उनके जरा-सा कुछ कहने से ही मेरा सिर गरम हो जाता था और इस प्रकार इस अच्छी नौकरी से भी मैं एक दिन के लिए भी सुखी न हुआ। स्वामीजी से जब मैंने ये बातें कहीं, तो वे बोले, "... एक बार जरा सोचो, जिसके लिए तुम वेतन पाते हो, दफ्तर के उन कार्यों को पूरा करने के अतिरिक्त तुमने अपने ऊपरवाले साहबों को सन्तुष्ट करने के लिए भी कभी कुछ किया है? कभी तो तुमने उसके लिए चेष्टा नही की, फिर भी वे लोग तुमसे सन्तुष्ट नहीं हैं – ऐसा सोचकर उनके ऊपर खीझे हुए हो! क्या यह बुद्धिमानों का काम है? यह जान लो कि हम लोग दूसरों के प्रति हृदय में जैसा भाव रखते है, वही कार्य में प्रकाशित होता है; और प्रकाशित न हो, तो भी उन लोगों के भीतर भी हमारे प्रति ठीक वैसे ही भाव का उदय होता है। हम अपने मन के अनुरूप ही जगत् को देखते हैं...। आज से किसी की बुराई देखना एकदम छोड़ देने की चेष्टा करो। देखोगे, तुम जितना ही वैसा कर सकोगे, उतना ही उनके भीतर का भाव और उनके कार्य तक परिवर्तित हो जायेंगे।" बस उसी दिन से औषधि-सेवन का मेरा पागलपन दूर हो गया और दूसरों के दोष ढूँढ़ने की चेष्टा त्याग देने के फलस्वरूप क्रमश: मेरे जीवन का एक नया पृष्ठ खुल गया। ...

और एक दिन की बात है – स्वामीजी ने समाचारपत्र में पढ़ा कि अनाहार के कारण कलकत्ते में एक मनुष्य मर गया है। यह समाचार पढ़कर स्वामीजी इतने दुखी हुए कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। वे बारम्बार कहने लगे, "अब तो देश गया।" कारण पूछने पर बोले, "देखते नहीं, दूसरे देशों में गरीबों की सहायता के लिए 'पूअर हाउस', 'वर्क हाउस',

'चैरिटी फण्ड' आदि संस्थाओं के रहने पर भी हर वर्ष सैकड़ो मनुष्य अनाहार की ज्वाला में समाप्त हो जाते है – समाचार-पत्रो में ऐसा देखने में आता है। पर हमारे देश में एक मुट्ठी भिक्षा की प्रथा होने से अनाहार के कारण लोगों का मरना कभी सुना नही गया। मैंने आज पहली बार अखबार में पढ़ा कि दुर्भिक्ष न होते हुए भी कलकत्ता जैसे शहर में अन्न के अभाव में कोई मरा।''

अंग्रेजी शिक्षा की कृपा से मैं भिखारियों को दो-चार पैसे देना अपव्यय समझता था। सोचता था – इस प्रकार जो कुछ थोड़ा-सा दान किया जाता है, उससे उनका कोई उपकार तो होता नही; अपितु बिना परिश्रम के पैसा पाकर उसे शराब, गाँजा आदि में खर्च कर वे और भी अध:पतित हो जाते हैं। ... स्वामीजी से इस विषय में जब मैंने पूछा तो वे बोले, ''भिखारी के आने पर यदि शक्ति हो, तो कुछ देना ही अच्छा है। दोगे तो बस दो-एक पैसा, फिर उसके लिए वह किसमें खर्च करेगा, सद्व्यय होगा या अपव्यय, ये सब बातें लेकर माथा-पच्ची करने की क्या आवश्यकता? और यदि सचमुच ही वह उस पैसे को गाँजा में उड़ा देता हो, तो भी उसे देने से समाज का लाभ ही है, नुकसान नहीं। क्योंकि तुम्हारे समान लोग यदि दया करके उसे कुछ न दें, तो वह तुम लोगों के पास से चोरी करके लेगा। वैसा न कर वह, जो दो पैसे माँगकर, गाँजा पीकर, चुप होकर बैठा रहता है, वह क्या तुम लोगों का ही लाभ नहीं है? अतएव इस प्रकार के दान में भी लोगों का उपकार ही है, अपकार नहीं।''

मैंने पहले से ही स्वामीजी को बाल-विवाह के बिल्कुल विरुद्ध देखा है। वे सर्वदा सभी को, विशेष कर बालकों को, हिम्मत बाँधकर समाज के इस कलंक के विरोध में खड़े होने के लिए तथा उद्योगी और सन्तुष्ट चित्त होने के लिए उपदेश देते थे। स्वदेश के प्रति इस प्रकार अनुराग भी मैंने और किसी में नहीं देखा। ... स्वामीजी संगीत-विद्या में विशेष पारंगत थे। एक दिन एक गीत का गायन भी उन्होंने आरम्भ किया था, परन्तु मैं तो 'संगीत में औरंगजेब' था; फिर मुझे सुनने का अवसर भी कहाँ था? उनके वार्तालाप ने ही हम लोगों को मोहित कर लिया था।

आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के सभी विभागों – यथा रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, मिश्रित गणित आदि पर उनका विशेष अधिकार था एवं उन विषयों से सम्बद्ध सभी प्रश्नों को वे बड़ी सरल भाषा में दो-चार बातों में ही समझा देते थे। फिर, पाश्चात्य विज्ञान की सहायता एवं दृष्टान्त से धर्मविषयक तथ्यों को विशद रूप से समझाने तथा यह दिखाने में कि धर्म और विज्ञान का एक ही लक्ष्य है, एक ही दिशा में गति है – उनकी क्षमता अद्वितीय थी। ...

खेतड़ी नरेश, कोल्हापुर के छत्रपति एवं दक्षिण के अनेक राजा उन के प्रति विशेष भक्ति रखते थे। स्वामीजी का भी उन लोगों पर बड़ा प्रेमभाव था। यह बात बहुतों के समझ में नही आती थी कि असाधारण त्यागी होकर भी वे राजे-रजवाड़ो के साथ इतनी घनिष्ठता क्यों रखते थे। ... इसका कारण पूछने पर एक दिन उन्होंने कहा, ''जरा सोचकर तो देखो, हजारों गरीब लोगों को उपदेश देने और सत्कार्य के अनुष्ठान मे तत्पर कराने से जो कार्य होगा, उसकी अपेक्षा एक राजा को इस दिशा मे ला सकने पर कितना अधिक कार्य हो जायेगा। निर्धन प्रजा में इच्छा हो तो भी सत्कार्य करने की क्षमता उसके पास कहाँ है? परन्तु राजा के हाथ में सहस्रों प्रजाओं के मंगल-विधान की क्षमता पहले से ही है, केवल इसे करने की इच्छा भर नही है। वह इच्छा यदि उनके भीतर जागृत कर सकूँ, तो ऐसा होने पर उनके स्वयं के साथ साथ उनके अधीन रहनेवाली सारी प्रजा की हालत बदल सकती है और इस प्रकार जगत् का कितना अधिक कल्याण हो सकता है।'' ...

एक दिन डरते डरते मैं उनसे पूछ बैठा, ''स्वामीजी, आप मेरी एक प्रार्थना पूरी करेंगे?'' स्वामीजी बोले, ''कहो, क्या कहना है?'' तब मैंने उनसे अनुरोधपूर्वक कहा, ''आप हम दोनों को दीक्षा दें।'' स्वामीजी ने मुझे टालने की चेष्टा की। जब उन्होंने देखा कि मैं किसी भी तरह माननेवाला नही, तो अन्त मे उन्हें स्वीकृति देनी ही पड़ी। और २५ अक्तूबर को उन्होंने हम दोनो को दीक्षा दी। इस समय मेरी प्रबल इच्छा हुई कि स्वामीजी का फोटो खिंचवाऊँ। परन्तु इसके लिए वे शीघ्र राजी नहीं हुए। अन्त में बहुत वाद-विवाद के बाद, मेरा तीव्र आग्रह देखकर २६ तारीख को वे फोटो खिंचवाने के लिए सहमत हुए। फोटो खींचा गया। इसके पूर्व अन्यत्र एक व्यक्ति के अतिशय आग्रह के बावजूद स्वामीजी ने फोटो नहीं खिंचवाया था, इसलिए फोटो की दो प्रतियाँ उस व्यक्ति को भी भेज देने के लिए उन्होंने मुझसे कहा।[१] मैंने स्वामीजी के इस आदेश को बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया। ... स्वामीजी का उस समय व्रत ही था – रुपये-पैसे का स्पर्श या ग्रहण न करना। मेरे अत्यधिक अनुरोध पर स्वामीजी मरहठी चप्पल के बदले एक जोड़ा जूता और बेत की एक छड़ी स्वीकार करने के लिए राजी हुए। ...

---

१. श्री महेन्द्रनाथ दत्त अपनी बँगला पुस्तक 'विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली' नामक पुस्तक मे (भाग २, पृ. १५६-७) बताते हैं कि स्वामीजी के बेलगाँव भ्रमण के दिनों में उनके पास (कलकत्ते में) डाक से एक फोटोग्राफ आया। लिफाफे पर कोई पता नहीं था। उनका अनुमान है कि फोटोग्राफर की ओर से उन्हें वह चित्र भेजा गया था, जिसमें स्वामीजी अपनी स्थूल देह पर पाँव तक डबल-वेस्ट कोट तथा सिर पर पगड़ी पहने हुए थे। चित्र देखते ही वे समझ गये कि वह स्वामीजी का है और उनका स्वास्थ्य थोड़ा सुधरा है। चित्र के साथ कोई पत्रादि नही था।

इस प्रकार स्वामीजी के पदार्पण से २६ अक्तूबर तक मेरे निवास-स्थान पर आनन्द का स्रोत बहता रहा। २७ तारीख को वे बोले, "और नहीं ठहरूँगा; रामेश्वर जाने के विचार से बहुत दिन हुए इस ओर निकला हूँ। पर यदि इसी प्रकार चला, तो इस जन्म में शायद रामेश्वर पहुँचना न हो सकेगा।" मै बहुत अनुरोध करके भी उन्हें रोक नहीं सका। २७ अक्तूबर की 'मेल' से उनका मर्मगोआ जाना निश्चित हुआ।

कुछ अन्य विवरण

स्वामीजी के इस बेलगाँव प्रवास से सम्बन्धित कुछ अन्य रोचक विवरण भी मिलते हैं। बम्बई के प्रसंग में पूर्वोद्धृत 'The Times of India' के १२ जुलाई, १९०२ ई. के अंक में प्रकाशित सम्पादक के नाम पत्र में श्रीनिवास अयंगार सेटलूर ने लिखा है – "परवर्ती स्थान (बेलगाँव) में वे एक पखवारा रहे। संयोगवश उन दिनों मेरे एक मित्र वहाँ उपस्थित थे। जगत् के रहस्यों के सच्चे जिज्ञासु होने कारण, वे प्राय: प्रतिदिन स्वामीजी के पास जाते और उनके साथ काफी समय तक चर्चा करते। शीघ्र ही मैं भी वहाँ गया और इस प्रकार मुझे इन महान् व्यक्ति की असाधारण क्षमताओं के बारे में पता चला। मैंने पाया कि मेरा मित्र जो पहले अज्ञेयवादी था, अब वेदान्त के विषय में बड़े उत्साहपूर्वक बोलता है। मित्र ने मुझे बताया कि उसने तथा बेलगाँव के अन्य लोगों ने स्वामीजी पर एक सार्वजानिक व्याख्यान देने के लिए दबाव डाला है, परन्तु उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वे प्राच्य पद्धति के अनुसार ही केवल उन्ही लोगों को ज्ञान देना पसन्द करते हैं, जिनमें इसके लिए तीव्र आकांक्षा है और जो इसके लिए (कुछ) बलिदान करने को भी प्रस्तुत है। जब मैंने बेलगाँव में स्वामीजी को पहली बार देखा, तभी से उनका जीवन मेरी दृष्टि में रहा और मैंने उनके विचार सदैव यथावत् ही पाये।"

फिर करवीर पीठ के शंकराचार्य श्री विद्याशंकर भारती ने, जो डॉ. कुर्तकोटि के नाम से प्रसिद्ध हुए, मराठी मासिक 'जीवन-विकास' के जनवरी १९६३ अंक में प्रकाशित अपने लेख में बताया है – "१८९२ ई. में जब स्वामीजी बेलगाँव में ठहरे थे, उस समय मैं एक मित्र के साथ धारवाड़ से किसी काम से वहाँ गया था और इस प्रकार मेरा उनकी वाग्विदग्धता के साथ परिचय हुआ। उस समय इतना ही सुनने में आया था कि वे एक बंगाली संन्यासी हैं। उनके सम्भाषण का मर्म ठीक से मेरी समझ में नहीं आया, तथापि उन्होंने मेरा मन आकृष्ट कर लिया था। ... कुछ महीनों बाद अमेरिका से आनेवाले समाचारों से ज्ञात हुआ कि जो बंगाली संन्यासी बेलगाँव आये थे, वे ही स्वामी विवेकानन्द हैं।"

उसी लेख में उन्होंने आगे बताया है कि बाद मे स्वामीजी के पश्चात्य देशों से लौट आने पर वे स्वयं भी संन्यास-ग्रहण करने की इच्छा से कलकत्ता जाकर काफी काल तक स्वामीजी के सान्निध्य में रहे। वैसे उस समय तो उनकी यह कामना पूरी न हो सकी। परन्तु बाद में संन्यास लेकर उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रचार तथा संगठन के क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण कार्य किये।

❖ (क्रमशः) ❖

(अगले अंक में हम स्वामीजी के गोवा-भ्रमण का वृतान्त देंगे।)

पर्वतराज हिमालय

डॉ. प्रणव कुमार बैनर्जी

हिमालय! भारतीय भूगोल के शीर्ष को एक शब्दातीत ऊँचाई का रूप देता हुआ पर्वतराज। अनगिनत सहस्राब्दियों का साक्षी बनकर खड़ा। मौन, ध्यानस्थ, बर्फाच्छादित। बादलों, बर्फ के बवंडरों, भूकम्पों, ज्वालामुखियों और इतिहास के आवर्तों से घिरा रहकर भी अप्रभावित! यह हिमालय पर्वत नही – एक मौनव्रती ऋषि है। भारतीय भूगोल का पिता है। समूची धरती भारतीय भूगोल की माँ और हिमालय उसकी माँग का सिन्दूर, जो उसके शीर्ष पर सतत जगमगाता है।

कर्तव्यनिष्ठ पिता अपनी सन्तान का दैहिक और मानसिक स्तर पर समान रूप से परिपोषण करता है। अपने को तपा-गलाकर भी उसके कल्याण को सुरक्षित रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। इसीलिए वह बाह्य जगत् की प्रतिकूलताओं को झेलता है और ऐसा परिवेश बनाता है कि उसकी सन्तान अपनी माँ का अनन्य प्रेम सहज और सम्पूर्ण रूप से प्राप्त कर सके। तभी आकाश और वायु के उन्मत्त प्रहारों को झेलते हुये भी हिमालय ने दी है असंख्य नदियाँ ताकि भारतीय भूगोल कभी पिपासित न रहे और भूमि बनी रह सके हमेशा अन्नपूर्णा। हिमालय जानता रहा है कि बाह्य पिपासा के साथ-साथ मन की भी एक प्यास हुआ करती है। इसलिए हिमालय के कृपा-प्रसाद से भारतीय भूगोल को प्राप्त हुई विश्व की प्रथम समकृत भाषा 'संस्कृत' और उसके साथ ही मिला वेदों का उपहार। आयुर्वेद और अनेकानेक वैज्ञानिक विधाओ ने प्रयोजनो की

परिधि के समानान्तर रहकर उसका स्पर्श किया। हिमालय ने तपस्वियों के लिए अपनी कन्दराएँ खोल रखी हैं और अपने शिखरो को देव-दानव-यक्ष-मानव सभी के समान संचरण के लिये भी। हिमालय का मौन आवाहन है – उठो, ऊँचे उठो, और ऊँचे। दुर्गम गिरि-लंघन के अखण्ड आत्मविश्वास के साथ ही जीवन की दुर्गमता की भी चुनौती को स्वीकार करो।

जीवन किसी संकीर्णता का नाम नहीं है। यह सच है कि आकाश एक है, सूर्य एक है, पृथ्वी एक है; पर पृथ्वी अथवा आकाश या सूर्य के नीचे जो कुछ है, वह सब केवल एक ही प्रकार की वस्तु नहीं है। हिमालय का ही हर श्रृंग अलग अलग ऊँचाई का प्रतिनिधित्व करता है – उसमें खाइयाँ हैं, ज्वालामुखी है, और भी अनेक भिन्नताएँ हैं। विविधतायें कभी खत्म नही हो सकतीं, क्योंकि ये प्राकृतिक हैं। प्रकृति के माध्यम से एक अद्वितीय शक्ति ही अपने को बहुरूपों में व्यक्त करती है। तभी हिमालय के आशीर्वाद पुष्ट ऋषियों ने उस अद्वितीय शक्ति के लिये मन्त्र प्रदान किया – **ॐ नमस्ते बहुरूपाय विष्णवे परमात्मने स्वाहा। ॐ नमो नाराणाय श्री विष्णवे नमः**। विविधताओं मे जीने के लिये सामंजस्य चाहिए। तभी हिमालय की लाडली पुत्री गंगा सबको अपना जाति, धर्म भूलकर जीवन के परम पुरूष के प्रति अगाध विश्वास लेकर एक साथ अपने जल में बारम्बार स्नान करने के लिये बुलाती रहती है। धर्म की सर्वोच्चता से लिपटी हिमालय की यही सर्वोच्च संस्कृति है। भारत का भूगोल इससे सहस्राब्दियों से ओत-प्रोत है। भारत के आत्म-स्पन्दनों का सर्वोच्च प्रतिनिधि केवल हिमालय है।

हिमालय यदि ऊँचा न होता, तो कुहरे या बादल नहीं बनते या फिर बर्फ के बवंडर भी जन्म नहीं लेते। ऊँचा उठने पर कुछ विरोधी परिस्थितियाँ अवश्य ही घेर लेती हैं। जैसे – छाया शरीर को। हिमालय निरन्तर ही कुहरे, बादल या बर्फ के बवण्डर सहता रहता है, पर ये सब स्वत: ही छँट जाते हैं और छँटकर अन्ततः हिमालय तथा भारत-भू की ही सेवा करते हैं। इसलिए हिमालय की शिक्षा है – विरोधी प्रभावों, परिस्थितियों मे अविचल रहो। इतिहास के अनेक अँधेरों ने भी हिमालय को घेरा, पर हिमालय के स्पर्श से अन्धकार के सभी आवर्त चकनाचूर हो गये। अन्धकारों से मुक्ति का इतिहास भारतीय जीवन के अध्ययन-कक्ष की सर्वोच्च निधि है। भविष्य को गढ़ने के लिए इतिहास ही राह दिखाता है।

दुनिया की कितनी ही संस्कृतियाँ लुप्त हो गयीं। पर भारत आज भी जीवित है। पश्चिम में कहीं कोई ईश्वर का पुत्र आया तो कहीं पैगम्बर। पर यह हिमालय की तपस्या का ही फल है कि भारतीय भूगोल में स्वयं ईश्वर ने बारम्बार देह धारण किया अथवा अमृत देनेवाले विषपायी शिव साक्षात् रूप में कैलास शिखर पर निरन्तर विद्यमान रहते हैं। बिना चश्मे के बहुतों को अक्षर नहीं दिखते। इसमें क्या अक्षर का दोष है? कैलास-मानसरोवर यात्रा में किसी को शिव न दिखे तो भोलेनाथ दोषी नहीं हो सकते। भावग्राही भगवान भावों की आँखों से दिखते हैं। भगवान के लिये भाव की कमी हो, तो किसे दोष दें?

हिमालय को देखने पर हमारे मन में प्रश्न जागता है – "इन विस्मयकारी पर्वतराज को किसने बनाया?" आसमान का सूर्य मुस्कुराकर कहता है – "मेरे आलोक में हिमालय सहित जो कुछ भी दिखता है, उस दृश्यमान जगत का पिता मैं ही हूँ।" तब एक प्रश्न और जन्म लेता है – "सूर्य की रचना किसने की?" वेद उत्तर देते हैं – "जगत् और जीवन के परम पुरुष विष्णु ने।" इसके साथ ही हिमालय प्रत्येक मन को 'रूप' से 'अरूप' की ओर ले जाता है। बाढ़ का पानी चारों ओर फैल जाये, तो ताल-तलैया, कुएँ – सब एक साथ डूब जाते हैं या कि एकाकार हो जाते हैं। एक अनुभूति, भले ही क्षणिक हो, जन्म ले लेती है – मैं भी तो उस चेतना का एक अखण्ड अंश हूँ। इस अनुभूति को गहराई से समझकर गहराई में उतर जानेवाले ऋषियों ने, तभी, वेदों को स्वर प्रदान किया – **सोऽहमस्मि**। अपने को पहचानने की एक व्यग्रता से हर क्षण सराबोर कर देना चाहता है हिमालय अपनी सन्तान को।

भावों के समानान्तर अभावों का रहना एक प्राकृतिक नियम है; अत: भाव-अभाव के द्वन्द्व में समय गँवाना व्यर्थ है। हिमालय के चरणों में खड़ा होकर हिमालय के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने की आवश्यकता महसूस करता हूँ। हिमालय की कृपा से ही तो यह आश्चर्यजनक घटना घटित हो पायी – उसकी परमप्रिय भारतभूमि की कोख में हमारा जन्म। हमारे नख से शिख तक, बाहर से भीतर तक, हिमालय की हवा प्रवाहित हो सके, भारत की मिट्टी की गन्ध निरन्तरता से आ सके, शायद हिमालय हमारी ओर स्थिर निगाहों से देखते हुए निरन्तर यही कामना करता है। हे हिमालय! तुम हमें अपनी ऊँचाई का स्वल्पतम देकर भी हमें उन्नत करो। यह प्रार्थना निश्चय ही निरर्थक नहीं होगी। ❑

स्वामी दयानन्द और उनके उपदेश

स्वामी सत्यरूपानन्द

पश्चिमी सभ्यता तथा अगरेजी भाषा से प्रभावित एवं सम्मोहित लोगों की यह एक धारणा हो गयी है कि भारत राष्ट्र का नव-जागरण अगरेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण ही सम्भव हो सका। इसके पक्ष में वे लोग राजाराम मोहन राय से लेकर स्वाधीनता प्राप्ति के कालखण्ड तक के प्रमुख नेताओं का उल्लेख करते हैं। उनकी इस धारणा में तथ्य अवश्य है, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। यह एक सयोग की बात है कि नव-जागरण के पुरोधाओं में से अधिकाश व्यक्ति अगरेजी भाषा और पाश्चात्य सभ्यता से सुपरिचित थे। किन्तु यह भी सत्य है कि उनकी प्रेरणा का स्रोत कहीं और था और वह था – भारत की प्राचीन सस्कृति तथा आध्यात्मिकता में।

स्वामी दयानन्द जी के महान जीवन तथा कार्यों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि आधुनिक भारत के नव-जागरण का मूल स्रोत उसकी अपनी प्राचीन सस्कृति तथा आध्यात्मिकता में था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारतीय नव-जागरण एव पुनरुत्थान की प्रेरणा उन्हें भारत की प्राचीन सस्कृ ति एव आध्यात्मिक धरोहर से ही मिली थी। स्वामी दयानन्द जी इस सत्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। उन्होंने न तो अगरेजी भाषा पढ़ी थी और न ही पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित थे। किन्तु फिर भी वे नवजागृत भारत के युगद्रष्टा सृजनशील पुरोधाओं में अन्यतम थे।

गुजरात के एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ था। वे विशुद्ध भारतीय वातावरण में पले, बढ़े। उन्हें प्राचीन ढग से सस्कृत तथा शास्त्रों की शिक्षा मिली थी। वे अत्यन्त मेधावी, अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न तथा विलक्षण पुरुष थे। उन्होंने अपनी सूक्ष्म बुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि से यह देख लिया कि भारत की दुर्दशा तथा दासता का कारण भारतीयों का अज्ञान में डूबे रहकर अन्धविश्वासों तथा अज्ञान की बेड़ियों में जकड़े रहना है। यह ज्ञान उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव से हुआ था। वे यौवन के प्रारम्भ में ही ज्ञान की खोज में निकल पड़े थे। ३६-३८ वर्ष की अवस्था में मथुरा में अपने गुरु प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द जी के पास पहुँचने के पूर्व उन्होंने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया था, विद्वानों से विभिन्न भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया था। इस अध्ययन से उन्हें विदित हुआ कि भारत के सभी शास्त्र तथा दर्शन वेदों को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं। अतः दयानन्दजी ने यह निश्चय किया कि वेदों में निहित धार्मिक तत्त्वों तथा जीवन-मूल्यों के आधार पर ही इस रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज को पुनर्जागृत कर देश को स्वाधीन किया जा सकता है। इसके लिए समाज की रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों को दूर करना सबसे पहली आवश्यकता थी।

अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने १८७५ ई. में मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' नाम का एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि सत्य के उपदेश के बिना अन्य किसी उपाय से मनुष्य जाति की उन्नति नहीं हो सकती। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि इस ग्रन्थ का उद्देश्य किसी के मन को दुखी करना या किसी को हानि पहुँचाना नहीं है। इस ग्रन्थ में सभी मतों के सत्य और अविरोधी बातों को रखा गया है तथा जो मिथ्या बातें हैं, उनका खण्डन किया गया है।

दयानन्दजी ने वेदों के मंत्र भाग को ही निर्भ्रान्त प्रमाण माना है। वेदों के इस भाग के अध्ययन के आधार पर ही उन्होंने घोषणा की – (१) ईश्वर (२) जीव तथा (३) प्रकृति – ये ही तीन अनादि पदार्थ हैं। सत् चित् आनन्द आदि गुणों से युक्त परब्रह्म परमात्मा ही एकमात्र ईश्वर है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान आदि गुणों से युक्त अल्पज्ञ ही जीव है तथा इस जगत के कारण को प्रकृति कहते हैं।

दयानन्दजी ने छूत, अछूत, ऊँच, नीच, छोटी जाति, बड़ी जाति आदि कुरीतियों का खण्डन कर यह प्रतिपादित किया कि हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था गुण तथा कर्मों पर आधारित है, न कि जन्म पर। व्यक्ति अपने गुणों से ही छोटा या बड़ा होता है ।

तत्कालीन हिन्दू समाज को जाग्रत व सक्रिय करने में उनकी एक और बड़ी देन यह है कि उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि प्रारब्ध की तुलना में पुरुषार्थ बड़ा है, अतः व्यक्ति को भाग्य के भरोसे न बैठ, वीरतापूर्वक कर्म करते हुए जीवन तथा समाज को उन्नत करने का दृढ़ प्रयत्न करना चाहिए।

शिक्षा की अभिनव व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की वृद्धि हो तथा अविद्या आदि दोष दूर हों, वह सच्ची शिक्षा है। दयानन्दजी ने समाज से दूर रहकर व्यक्तिगत मुक्ति की साधना के पथ को स्वीकार नहीं किया। उनके उपदेश कर्मठ तथा सक्रिय रहकर समाज की सेवा तथा उन्नति के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति के पथ को ही श्रेष्ठ बताते हैं। वे हिन्दू समाज को एक स्वस्थ तथा सक्रिय दृष्टिकोण प्रदान करना चाहते थे। उनके मन में एक ऐसे समाज की कल्पना थी, जो शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ, मानसिक दृष्टि से दक्ष, बौद्धिक दृष्टि से विवेकशील तथा नैतिक भावनाओं और उत्तरदायित्व से पूर्ण हो।

उन्होंने यह स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि इस प्रकार की समाज-रचना करने के लिए समाज को कुण्ठाओं, रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों से मुक्त करना होगा। समाज के इन दोषों को दूर करने का एकमात्र उपाय है उचित शिक्षा। इसके लिए दयानन्दजी ने प्राचीन गुरुकुल पद्धति की शिक्षा पर जोर दिया, किन्तु उसके साथ यह भी व्यवस्था की कि इन गुरुकुलों में सस्कृत, भारतीयशास्त्र आदि के साथ साथ आधुनिक विज्ञान, तकनीक आदि की भी शिक्षा दी जाय।

नारियों की मर्यादा, उनके प्रति सम्मान तथा उनकी शिक्षा पर भी उन्होंने विशेष बल दिया। उनकी मान्यता थी कि लड़कियों को भी लड़कों के समान ही शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने नारी को भी पुरुष के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया। हम सभी जानते हैं कि आर्यसमाज ने कई कन्या-गुरुकुलों की भी स्थापना की है।

स्वामी दयानन्द जी ने यह अनुभव किया कि पराधीन रहते हुए कोई भी जाति या समाज अपनी उन्नति नहीं कर सकता। विदेशी शासन कितना भी सुव्यवस्थित क्यों न हो, वह पराधीन जाति के सर्वांगीण विकास तथा कल्याण का साधन नहीं हो सकता। उनके इन विचारों से प्रभावित होकर ही परवर्ती काल में आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने भारत के स्वाधीनता सग्राम में सक्रिय भाग लिया था।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आधुनिक भारत के नव-जागरण तथा उत्थान में स्वामी दयानन्द जी तथा उनकी शिक्षाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ❑❑❑

विवेकानन्द की वाणी

जितेन्द्र कुमार तिवारी

गुँजाओ विश्व में युवको
विवेकानन्द की वाणी ॥

उसे कह लो जिहोवा, गॉड,
अल्ला या कहो ईश्वर।
सभी का एक मालिक है
विधाता-विश्व, परमेश्वर ॥

वही है सर्वव्यापी शक्ति
जग-जीवों की कल्याणी ॥
गुँजाओ विश्व में युवको, विवेकानन्द की वाणी ॥

दुखी-दीनों की सेवा ही
सनातन धर्म है सच्चा।
करोगे और क्या भाई
यही सत्कर्म है अच्छा ॥

तुम्हारे हों परम आराध्य
सब मानव सभी प्राणी ॥
गुँजाओ विश्व में युवको, विवेकानन्द की वाणी ॥

जगत् में आर्य संस्कृति ही
सभी से श्रेष्ठ बढ़-चढ़कर।
हमारे वेद-गीता में
परम आदर्श है सुखकर ॥

इन्हीं के शान्तिजल से
सींच दो जड़वाद पाषाणी।
गुँजाओ विश्व में युवको, विवेकानन्द की वाणी ॥

आचार्य रामानुज (२३)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेन्नै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

२०. श्रीशैल-दर्शन तथा गोविन्द का आगमन

अगले दिन प्रात:काल रामानुज अपने शिष्यों के साथ अष्टसहस्र ग्राम से निकलकर कांचीपुर की ओर अग्रसर हुए। दोपहर को वहाँ पहुँचने के बाद उन्होंने श्री वरदराज स्वामी का दर्शन करके स्वयं को कृतार्थ माना। तदुपरान्त महात्मा कांचिपूर्ण से मिलकर वे परम आनन्दित हुए। वहाँ तीन रात निवास करने के बाद वे कपिल तीर्थ गये। वहीं स्नानादि करने के बाद उसी दिन वे श्रीशैल की तलहटी में जा पहुँचे। शैल का दर्शन करके उनके हर्ष की सीमा न रही। वे काफी देर तक एकटक उस भू-वैकुण्ठ की ओर देखते रहे। उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। वे सोचने लगे, "यही वह महास्थली है, जहाँ लक्ष्मी जी के साथ साक्षात् श्रीहरि निवास कर रहे हैं! अहा, इसी कारण इसकी ऐसी दिव्य शोभा है! पृथ्वी का समस्त पुण्य पुंजीभूत होकर इस शैल के रूप में स्थित है। इसी महा-पुण्यराशि पर नारायण सह लक्ष्मी जी निवास करती हैं। मैं अपनी इस कलुषमय देह के साथ इस पवित्र शैल पर चढ़कर इसे कलुषित नहीं करूँगा। यहीं से प्रतिदिन इसका दर्शन करके मैं अपने अशुद्ध शरीर-मन को पवित्र करके कृतार्थ होऊँगा।" ऐसा निश्चय कर वे श्रीशैल की तलहटी में ही निवास करने लगे। वहाँ के राजा विट्ठलदेव श्री रामानुज के आगमन का संवाद पाकर अपने मंत्रियों के साथ उनके चरणों में उपस्थित हुए। शिष्यत्व ग्रहण करने के उनके सविनय अनुरोध पर करुणामय यतिराज ने संस्कार के द्वारा उन्हें शुद्ध करके अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया। विट्ठलदेव ने गुरुदक्षिणा के रूप में इलमण्डीय नामक विस्तीर्ण भूभाग श्री रामानुज को प्रदान किया। यतिराज ने वह प्रदेश निर्धन ब्राह्मणों को दान देकर परम सन्तोष का अनुभव किया।

इधर श्रीशैल के निवासी साधु-तपस्विगण यतिराज के आगमन का समाचार सुनकर उनका दर्शन करने को लालायित हुए। उन लोगों ने जब सुना कि श्री रामानुज ने पादस्पर्श के भय से शैल पर न चढ़ने का संकल्प किया है, तो वे एक साथ मिलकर उनके पास गये और अतीव विनयपूर्वक बोले, "हे महात्मन्! यदि आपके समान महानुभाव पादस्पर्श के भय से शैल पर आरोहण न करें, तो फिर सामान्य लोग भी वैसा ही करेंगे। वे लोग कहेंगे, 'जब पवित्र-स्वभाव रामानुज पादस्पर्श के भय से पर्वत पर नहीं चढ़े, तो फिर हम लोगों की क्या बात? हम तो स्वभाव से ही मलिन हैं।' इसी प्रकार सम्भव है कि पुजारिगण भी भगवान के पास न जायँ। अतएव आप अविलम्ब ऊपर चलने का निश्चय करें। इसके अतिरिक्त आपके समान महात्माओं का हृदय ही श्रीहरि का वास्तविक मन्दिर है। वहाँ भक्तिरूपी परमामृत के द्वारा निरन्तर उनकी पूजा चल रही है। भक्ति ही श्रीहरि की एकमात्र प्रिय वस्तु है। जिनके हृदय में वह भक्ति है, वहाँ नारायण नित्य विराजते हैं। इसी कारण युधिष्ठिर ने विदुर से कहा था –

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयम्प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥[1]

– "प्रभो, आपके समान भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं, जो अपने हृदय में विराजित भगवान के साथ तीर्थों में विचरण करते हुए उन्हें तीर्थत्व प्रदान करते हैं।"

महात्माओं की इस विनयपूत वाणी को आदेश मानकर यतिराज अपने शिष्यों के साथ शैल पर आरोहण करने चल पड़े। ऊँचाई की ओर चढ़ते समय भूख-प्यास से उनका शरीर क्लान्त हो गया। वयोवृद्ध, परमभक्त श्री शैलपूर्ण तत्काल ही गिरिशिखर से भगवान का प्रसाद एवं चरणामृत हाथ में लिए उनके सम्मुख आ पहुँचे और उन्हें यतिराज को सौंपते हुए ग्रहण करने का अनुरोध किया। ऋषितुल्य महापुरुष को अपने लिए प्रसाद वहनकर लाये देखकर श्री रामानुज बोले, "हे महात्मन्, आपने ऐसा अनुचित कार्य क्यों किया? इस अधम दास के लिए आपके समान गुरुओं का इस प्रकार कष्ट उठाना ठीक नहीं। किसी सामान्य बालक को कहने से ही वह ले आता।" यह सुनकर श्री शैलपूर्ण ने कहा, "यतिराज, मैं भी यही सोचकर एक साधारण बालक की खोज कर रहा था, परन्तु अपने से भी हीनमति किसी बालक को न पाकर, मुझे ही यह भार वहन करना पड़ा।" श्री शैलपूर्ण की ऐसी दीनता देखकर रामानुज अतीव विस्मित होकर बोले, "आज मेरे ज्ञानचक्षु खुल गये। आपसे दीन-भाव की शिक्षा पाकर मैं कृतकृत्य हुआ।"

उन्होंने भक्ति-गद्‌गद चित्त के साथ पूर्णप्रज्ञ शैलपूर्ण के चरणों में अभिवादन किया और शिष्यों के साथ प्रसाद ग्रहण किया। थकान मिटाने के बाद बाकी चढ़ाई पूरी करके वे श्रीपति वेंकटनाथ के मन्दिर के सम्मुख जा पहुँचे। शैलवासी

१. श्रीमद्भागवतम्, १/१३/१०

शिष्य अनन्ताचार्य ने आकर उनके चरण ग्रहण किये। उन्हें देखकर यतिराज परम आनन्दित हुए और भूरि भूरि आशीर्वाद देने लगे। फिर मन्दिर की प्रदक्षिणा करने के बाद वे श्री वेंकटनाथ के सम्मुख उपस्थित होकर आनन्दाश्रु विसर्जित करने लगे। उनका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया। काफी देर तक इसी अवस्था में रहने के बाद क्रमशः उनकी बाह्यसंज्ञा लौटी। अर्चको ने परम भक्तिपूर्वक उन्हें श्रीपाद-तीर्थ एवं प्रसाद अर्पित किया। उन्होंने शिष्यों के साथ उसे ग्रहणकर परम तृप्ति का बोध किया। भगवान तथा वहाँ स्थित अन्य देवी-देवताओं के विग्रह का दर्शन करने के उपरान्त श्री रामानुज शिष्यों सह सर्वतीर्थमय पुण्योदक सरोवर में स्नान करके परम सुखी हुए। वहाँ तीन रात बिताने के बाद वे नीचे उतर आये।

इसी बीच उनके मौसेरे भाई तथा श्री शैलपूर्ण के परम अनुगत शिष्य गोविन्द आकर उनसे मिले। यतिराज अपने पूर्व प्राणरक्षक एवं बाल्यबन्धु को देखकर अतीव हर्षित हुए और उनका प्रेमपूर्वक आलिंगन किया। हम पहले ही बता आये हैं कि श्री शैलपूर्ण से वैष्णव-धर्म में पुनः दीक्षित होने के पश्चात् गोविन्द श्री रामानुज के पास गये थे। पर वहाँ उनके साथ कुछ दिन बिताने के बाद ही अपने गुरुदेव श्री शैलपूर्ण के लिए वे इतने व्याकुल हो उठे कि यतिराज उन्हें उनके गुरुदेव के पास भेजकर ही निश्चिन्त हो सके थे। तब से गोविन्द श्री शैलपूर्ण के पास ही रहते थे। गुरुसेवा में उनका ऐसा प्रगाढ़ अनुराग था कि इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य किसी भी विषय में कोई स्पृहा न थी। उनका स्वभाव पाँच वर्ष के बालक के समान था।

गिरिशिखर से नीचे उतरकर श्री शैलपूर्ण के अनुरोध पर श्री रामानुज ने एक वर्ष तक उनके घर में निवास किया। महात्मा पूर्ण उन्हे प्रतिदिन रामायण का पाठ कराते थे। उनकी सुललित एवं गम्भीर व्याख्या सुनकर यतिराज की आध्यात्मिक जिज्ञासा बलवती हो उठी। पूरे एक वर्ष तक उक्त महापुरुष के पास रहकर उनसे सम्पूर्ण रामायण का अध्ययन कर उन्होंने अपने को परम भाग्यवान माना। वहाँ निवास के दौरान वे गोविन्द के आचार-व्यवहार को देखकर अतीव विस्मित हुए। एक बार उन्होंने देखा कि उनके बाल्यबन्धु अपने गुरुदेव के लिए बिस्तर लगाकर उस पर स्वयं लेट गये। इस पर विस्मित एवं आश्चर्यचकित होकर यतिराज ने जब यह बात श्री शैलपूर्ण को बताई, तो उन्होंने तत्काल गोविन्द को बुलाकर प्रश्न किया, "तुमने मेरे बिस्तर पर शयन किया है। जानते हो, गुरु की शय्या पर सोने से क्या होता है?" गोविन्द ने शान्त स्वर में उत्तर दिया, "गुरुतल्पशायी को चिरकाल तक नरकवास करना पड़ता है।" पूर्ण बोले, "यह जानते हुए भी तुमने ऐसा आचरण क्यों किया?" गोविन्द ने कहा, "मैं नरकवास की इच्छा से ही आपकी शय्या पर सोता हूँ। शय्या सुखद हुई या नही, उस पर सोने से आपको सहज ही नींद आयेगी या नहीं, इसी की जाँच करने के लिए मैं अन्त में नरक जाना स्वीकार करके भी, प्रतिदिन बिस्तर लगाने के बाद एक बार उस पर लेटकर देख लेता हूँ। मेरे नरक जाने से भी यदि आपको किंचित् सुख-सुविधा मिले, तो वह मेरे लिए स्वर्गसुख से भी अधिक वांछनीय है।" पास खड़े यतिराज ने सब सुना और गोविन्द की गुरुभक्ति की पराकाष्ठा देखकर स्तम्भित रह गये। अज्ञानवश अपने मौसेरे भाई के बारे में गलत धारणा बना लेने के कारण उन्हाने लज्जित होकर उनसे क्षमा-याचना की।

एक अन्य समय श्री रामानुज ने दूर से देखा कि गोविन्द ने एक सर्प के मुख में अंगुली डालकर उसे तेजी से खींच लिया और सर्प पीड़ावश मरणासन्न होकर पड़ा रहा। इसके बाद गोविन्द जब स्नान करके यतिराज के पास आये, तो उन्होंने विस्मयपूर्वक पूछा, "भाई! तुमने यह कैसा कर्म किया? विषैले सर्प के मुख में अंगुली डालना पागलपन को छोड़ और क्या है? बड़े भाग्य से ही तुम्हारे रक्त में विष का संक्रमण नही हुआ। बच्चों जैसा आचरण करके तुमने स्वयं को भी संकट में डाल लिया था और वह निरपराध जीव भी अब मरणासन्न पड़ा हुआ है। तुम्हारे समान सत्पुरुष के लिए किसी भी जीव को कष्ट पहुँचाना उचित नहीं।" गोविन्द ने उत्तर दिया, "भाई! किसी कण्टकयुक्त वस्तु को खाते समय सर्प के गले में काँटा बिंध गया था और वह पीड़ा से छटपटा रहा था, इसीलिए उसके मुख में अंगुली डालकर मैंने काँटा निकाल दिया है। उसे अब पहले जैसी पीड़ा नहीं है। केवल थकान के कारण ही वह निर्जीव-सा पड़ा है। थोड़ी ही देर में वह स्वस्थ हो जायेगा, चिन्ता मत करो।" गोविन्द की जीव-हित-कामना की पराकाष्ठा देखकर रामानुज मुग्ध हो गये। इस घटना के बाद गोविन्द के प्रति उनका प्रेम और भी प्रगाढ़ हो गया।

वर्ष के अन्त में रामायण का पाठ समाप्त हो जाने पर उन्होंने श्री शैलपूर्ण को यथायोग्य गुरुदक्षिणा देकर उनसे विदा माँगी। इस पर उन्होंने कहा, "वत्स रामानुज, यदि तुम्हें कोई अभिलाषा हो, तो मुझसे कहो। यदि वह मेरी क्षमता में हुआ, तो मैं उसे अभी पूरा करने का प्रयास करूँगा।" यतिराज बोले, "हे महात्मन्, आप अपने देवतुल्य शिष्य गोविन्द को

पूजा के सच्चे पुष्प

ईश्वर निम्नलिखित आठ पुष्पों द्वारा पूजे जाने पर प्रसन्न होते हैं – प्रथम अहिसा, द्वितीय इन्द्रिय-संयम, तृतीय जीवों पर दया, चतुर्थ शम, पंचम दम, षष्ठम दम, सप्तम ध्यान और अष्टम सत्य। हे नृपश्रेष्ठ, अन्य पुष्प तो पूजा के बाह्य अंग है।

– पद्मपुराण

मुझे दे दीजिए। यही मेरी प्रार्थना है।'' यह सुनकर श्री शैलपूर्ण ने अपने परम प्रिय शिष्य को तत्काल श्री रामानुज के हाथों में सौंप दिया। गोविन्द को पुन: पाकर उनके आनन्द की सीमा न रही। वे अविलम्ब शिष्यों के साथ घटिकाचल (शोलिंगर) की ओर चल पड़े और वहाँ नृसिंहदेव का दर्शन कर उन्हें परम आनन्द हुआ। वहाँ से पक्षितीर्थ (तिरुक्कलिकुण्ड्रम) पहुँचकर देवदर्शन तथा स्नान आदि करने के बाद वे कांचीपुर लौट आये। श्री वरदराज स्वामी का दर्शन करने के पश्चात् यतिराज कांचिपूर्ण से मिले और उन्हें गोविन्द की गुरुभक्ति तथा जीवहित-परायणता के विषय में अवगत कराने के बाद बोले, ''हे महात्मन्, आप मेरे मौसेरे भाई को आशीर्वाद देकर उसे और भी गुरुभक्ति-परायण तथा जीवहिताकांक्षी करें।'' कांचिपूर्ण ने स्मित हास्य के साथ कहा, ''तुम्हारी इच्छा सदैव फलवती होगी; तुम जिसकी भी हितकामना करते हो, उसका कभी कोई अहित नही हो सकता।''

समीप ही उपस्थित गोविन्द का उतरा हुआ चेहरा देखकर कांचिपूर्ण ने कहा, ''यतिराज, गुरुसेवा के अभाव में गोविन्द का मुखचन्द्र मलिन हो गया है। तुम इन्हें श्रीशैल के पास भेज दो।'' यह सुनकर श्री रामानुज ने गोविन्द को तत्काल गुरु के पास जाने का आदेश दिया। गोविन्द सीधा रास्ता पकड़कर अविलम्ब श्रीशैल की तलहटी में स्थित अपने गुरु के घर जा पहुँचे। श्री शैलपूर्ण ने उनके लौट आने का संवाद पाने के बाद एक बार भी उनकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया। दोपहर बीत गया। सबका भोजन हो गया, परन्तु पूर्ण ने गोविन्द को भोजन के लिए नहीं बुलाया। तीसरा पहर भी निकल गया और गोविन्द भूखे ही बाहरी द्वार पर बैठे रहे। पूर्ण की कोमलहृदय सहधर्मिणी इसे सहन न कर सकीं और पतिदेव से बोलीं, ''गोविन्द से बात कीजिए या मत कीजिए, परन्तु उसे भोजन करने का आदेश तो दीजिए।'' इस पर उनके पतिदेव ने कहा, ''जो घोड़ा बिक चुका है, उसके दाने-पानी के लिए मैं उत्तरदायी नहीं हूँ। उसका अब नये स्वामी द्वारा ही प्रतिपालित होना उचित है।''

यह सुनकर गोविन्द चुपचाप भूखे ही कांचीपुर लौट आये और श्री रामानुज के पाँव पकड़कर बोले, ''यतिराज, अब आप मुझे भाई कहकर सम्बोधित नहीं करेंगे। पुराने स्वामी के मुख से सुना कि अब आप ही मेरे वर्तमान स्वामी हैं। मुझे क्या करना होगा, आदेश दीजिए।'' पूरे दिन के अनाहार तथा पथश्रम से गोविन्द को अत्यन्त थके एवं मलिन देखकर श्री रामानुज ने तत्काल स्नान-भोजनादि के द्वारा उनकी क्लान्ति दूर की। तब से गोविन्द जैसी भक्ति के साथ श्री शैलपूर्ण की सेवा करते थे, वैसी ही प्रगाढ़ भक्ति एवं मनोयोग के सहित अपने वर्तमान गुरु की सेवा करने लगे।

कांचीपुर में तीन रात निवास करने के बाद उन लोगों ने अष्टसहस्र ग्राम पहुँचकर यज्ञेश की सेवा ग्रहण की; वहाँ एक रात बिताने के बाद यतिराज गोविन्द तथा अन्य शिष्यों के साथ श्रीरंगम लौट आये। वहाँ श्री रंगनाथ स्वामी तथा अपने गुरुओं का दर्शन करने के बाद उन्होंने मठ में प्रवेश किया।

२१. गोविन्द का संन्यास

अपने मामा श्री शैलपूर्ण के आचरण पर गोविन्द जरा भी क्षुब्ध नही हुए। बल्कि वे समझ गये कि उनका श्री रामानुज के हाथों में पूर्णरूपेण समर्पण कराना ही उन महात्मा का उद्देश्य था। तब से वे मनसा-वाचा-कर्मणा यतिराज की सेवा में लग गये। दो-चार दिनों के भीतर ही उन्होंने अपने नये स्वामी की सभी जरूरतों को समझ लिया। इसके द्वारा वे उनके कुछ कहने के पूर्व ही सारा काम ऐसे शृंखलाबद्ध भाव से पूरा कर डालते कि उसे देख यतिराज के अन्य शिष्य विस्मित रह जाते। एक बार सबने मिलकर सेवानिपुणता के लिए उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की। गोविन्द ने यह सुनकर कहा, ''हाँ, मेरे गुण इसी तरह की प्रशंसा के योग्य हैं।'' इस पर प्रशंसकों ने उन्हें अहंकारी मानकर श्री रामानुज को भी इस विषय में अवगत कराया। उन्होंने गोविन्द को बुलाकर कहा, ''वत्स, तुम्हारे सद्गुण देखकर ये लोग उसकी प्रशंसा कर रहे हैं, इस पर क्या तुम्हारा अहंकार व्यक्त करना उचित है?'' गोविन्द ने उत्तर दिया, ''महात्मन्, चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद इस मोहान्ध जीव को मानव-जन्म मिला है, इसके बावजूद और अनेक जन्मों के बाद यह जन्म प्राप्त होने पर भी वह मोहान्धता के कारण कुमार्ग पकड़कर पतन की ओर उन्मुख हो रहा था। आपकी असीम करुणा ही मेरे उद्धार का कारण है। मेरे भीतर जो भी सद्भाव हैं, वे आपके ही हैं, क्योंकि मैं तो स्वभाव से ही जड़मति एवं हीनवृत्ति हूँ। अत: मेरे सद्गुणो की प्रशंसा से आपकी ही प्रशंसा हुई, इसी कारण मैंने ऐसा कहा।'' यह सुनकर सभी लोग विस्मित रह गये।

एक अन्य दिन गोविन्द प्रात:कृत्य समाप्त किये बिना, उषाकाल से ही मुग्ध के समान एक वारांगना के द्वार पर बैठे हुए थे। यह देखकर उनके साथियों ने यतिराज को उनके इस असामान्य व्यवहार की बात बतायी। उन्होंने गोविन्द को बुलाकर पूछा, ''प्रात:कृत्य छोड़कर वेश्या के द्वार पर क्यो बैठे थे?'' इस पर उन्होने उत्तर दिया, ''उक्त महिला अति मधुर स्वर में रामायण-कथा गा रही थी; उसे पूरा सुनने की इच्छा से ही मैं वहाँ बैठा था। इसी कारण मेरा प्रात:कृत्य अब तक नहीं हो सका है।'' यह सुनकर सभी उनकी सरलता एवं सहज-भक्ति पर मुग्ध हो गये।

श्री शैलपूर्ण की बहन गोविन्द की माता ने, इसी बीच एक दिन श्री रामानुज के पास आकर कहा, ''वत्स, गोविन्द की

पत्नी ऋतुमती हुई है, अत: तुम उसे सहधर्मिणी की धर्मरक्षा करने का आदेश दो, क्योंकि मेरे कहने से वह नहीं जायेगा। मेरे द्वारा इस विषय में सूचित किये जाने पर उसने कहा, 'यतिराज की सेवा के बाद जब मुझे एकान्त में बैठने का समय मिलेगा, तभी मेरी भार्या को ले आना।' परन्तु बेटा, अभी तक ढूँढ़ते हुए मुझे उसके अवकाश का क्षण नहीं मिला। वह सर्वदा किसी-न-किसी कार्य में व्यस्त ही रहता है।"

यह सुनकर श्री रामानुज ने गोविन्द को अपने पास बुलाकर कहा, "वत्स, अब तुम तमोगुण को त्यागकर अपनी भार्या के साथ एक ही शय्या पर सोना।" गोविन्द ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की। उस रात वे जाकर पत्नी के पास ही सोये और विविध प्रकार की सच्चर्चा करते हुए पूरी रात बिता दी। बहू के मुख से रात की दास्तान सुनकर गोविन्द की माता द्युतिमती ने रामानुज के पास जाकर सब सूचित किया। इस पर यतिराज ने गोविन्द को अकेले में बुलाकर कहा, "मैंने तुम्हारी सहधर्मिणी के धर्मरक्षार्थ तुम्हें उसके साथ शयन करने को कहा था। पर क्या कारण है कि तुमने वैसा नहीं किया?" गोविन्द बोले, "महात्मन्, तमोगुण का परित्याग कर पत्नी के साथ शयन करने का आपने आदेश दिया था। मैंने वैसा ही किया; क्योंकि तमस् का परित्याग करते ही हृदय में विराजित अन्तर्यामी पुरुष प्रकट हो जाते हैं। ऐसी अभिव्यक्ति के समक्ष तम:प्रसूत कामादि के ठहरने की सम्भावना ही कहाँ है?"

इस पर श्री रामानुज अतीव विस्मित हुए और थोड़ी देर मौन रहकर बोले, "गोविन्द, यदि तुम्हारे मन की यही अवस्था है, तो अविलम्ब संन्यास ग्रहण करना ही तुम्हारा कर्तव्य है; क्योंकि शास्त्रीय विधि के अनुसार आश्रम में रहने पर आश्रमी के समान ही आचरण करना पड़ता है। अतएव यदि तुम इन्द्रियों पर आधिपत्य करने में समर्थ हो, तो फिर तुम्हारे लिए संन्यास ले लेना ही उचित है।" गोविन्द परम हर्षित होकर बोले, "मैं अभी तैयार हूँ।" यतिराज ने अविलम्ब गोविन्द की माता से अनुमति लेकर उन्हें "ताप: पुण्ड्रुस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पंचम:" – इन पाँच संस्कारों से युक्त किया और दण्ड-कमण्डलु देकर परमहंस-पद पर उन्नीत कर दिया। नवीन संन्यासी की दिव्य कान्ति, ज्ञानोद्भासित मुखमण्डल, प्रेमाश्रु-सिंचित पद्मपलाश-सदृश नेत्र तथा शुद्ध ज्ञान-भक्तिमय विग्रह देखकर यतिराज ने उन्हें 'मन्नाथ' का नाम प्रदान किया। श्री रामानुज ही अपने शिष्यों द्वारा इस नाम से पुकारे जाते थे। उन्होंने अतीव प्रीतिसह अपना नाम गोविन्द को अर्पित किया; पर अभिमानशून्य, सत्त्वमूर्ति, बालरवि के समान कान्तिमान, ओस-कणिका के समान निर्मल, प्रफुल्ल कुसुमों के समान मनोहर ईश्वरानुराग-रंजित-हृदय, सनकादि-सम बालस्वभाव, प्रेमिक संन्यासी गोविन्द शुद्ध दास्यभक्ति के आदर्शस्वरूप थे; अत: दास्यभाव का परित्याग कर भला वे कैसे सोऽहम्-भाव का आश्रय ले सकते थे? उनके किसी भी हालत में अपने प्रभु का नाम धारण करना स्वीकार न करने पर, श्री रामानुज ने 'मन्नाथ' शब्द को तमिल में अनुवाद करके 'एम-पेरुमनार' बना दिया और उसके पहले तथा अन्तिम अंश को जोड़कर 'एम-आर' या 'एम्बार' का रूप सिद्ध किया। गोविन्द को यही नाम मिल गया। श्री जगन्नाथ-क्षेत्र में 'एमार मठ' नाम का जो सुप्रसिद्ध मठ है, वह श्री रामानुज द्वारा ही निर्मित है और उन्होंने ही गोविन्द के नाम पर इसका नामकरण किया है।

उस समय श्री रामानुज के श्रीरंगम में स्थित मठ में कुल मिलाकर चौहत्तर शिष्य निवास कर रहे थे। ये सभी विद्वान्, बड़े त्यागी एवं परम भक्तिमान थे। समग्र वेद तथा द्रविड़ प्रबन्धमाला इन्हें कण्ठस्थ थी। इन्हें सिंहासनाधिपति तथा पीठाधिपति का नाम मिला हुआ था। लगता है इन्हीं के अनुकरण पर गौड़ीय वैष्णवों ने श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों को 'गोस्वामी' की आख्या प्रदान की थी। इसके पूर्व हम दाशरथि, कुरेश, सुन्दरबाहु, शोट्टिनम्बी, सौम्यनारायण, यज्ञमूर्ति, गोविन्द आदि उनके प्रधान शिष्यों में से कुछ का उल्लेख कर आये हैं। इन समस्त से परिवृत होकर श्री रामानुज ने शास्त्र-चर्चा, भक्तितत्त्व की व्याख्या आदि करते हुए परम आनन्दपूर्वक कुछ काल अपने मठ में निवास किया।

❖ (क्रमश:) ❖

भागवत-सार (३)

स्वामी रंगनाथानन्द

दैत्यराज बलि की कथा

इसके उपरान्त भागवत के ८वें स्कन्ध के १५वें अध्याय में महान् राजा बलि की कथा है। यहाँ एक बड़ी रोचक बात यह है कि उनके राज्य में जातिप्रथा नहीं थी। लोगों में पूरी समता विद्यमान थी। परन्तु उस काल के धर्माचार्य इसे पसन्द नही करते थे, अत: भगवान वराह के रूप मे अवतरित हुए। एक श्लोक हमें भगवत्कृपा-प्राप्त मनुष्य का लक्षण बताता है। वह लक्षण क्या है? श्लोक कहता है कि यदि तुम्हारा अच्छे कुल मे जन्म हुआ है, अच्छी शिक्षा मिली है, काफी धन तथा शक्ति-सामर्थ्य है, पर इनके बावजूद यदि तुममें अहंकार नहीं है, तो इसका तात्पर्य है कि तुम पर भगवान की कृपा है –

जन्म-कर्म-वयो-रूप-विद्यैश्वर्य-धनादिभिः।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः।। ८.२२.२६

आज भारतवर्ष में अनेक लोग सत्तासीन तथा काफी धनाढ्य हैं। वे लोग भी गर्व को त्यागकर ईश्वर की कृपा प्राप्त कर सकते हैं। इस श्लोक से हमे यही शिक्षा मिलती है।

अब हम १०वे स्कन्ध पर आते हैं, जहाँ भगवान श्रीकृष्ण की कथा है। शुकदेव ने इससे पूर्व भी अन्य अवतारों के साथ श्रीकृष्ण का उल्लेख किया था, परन्तु राजा परीक्षित इतने से सन्तुष्ट नहीं थे और उन्होंने सविस्तार भगवान श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन करने का अनुरोध किया। शुकदेव बोले – ठीक है, मै ऐसा ही करूँगा। बड़ा मधुर श्लोक है –

एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं
वैयासिकिः स भगवानथ विष्णुरातम्।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं
व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः।। १०.१.१४

शुकदेव बड़े प्रसन्न हुए और राजा के श्रद्धालु स्वभाव का सम्मान करते हुए अद्भुत रूप से भगवान श्रीकृष्ण के पावन चरित्र का वर्णन करने लगे। कृष्ण-चरित क्या है? **कृष्णचरितं भागवतप्रधानः** – यह भागवत का मूलभूत तत्त्व है और **कलिकल्मषघ्नम्** – यह कलिमलों का नष्ट करनेवाला है। इस श्लोक के बाद शुकदेव मुनि कारागार में उत्पन्न हुए वासुदेव और देवकी के पुत्र श्रीकृष्ण-कथा प्रारम्भ करते हैं। गम्भीर दार्शनिक श्लोक अब प्रारम्भ होते है। तीसरे अध्याय में माता देवकी की प्रार्थना है –

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान् सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति।। १०.३.२७

दिव्य शिशु को देखकर माता देवकी ने कहा – मनुष्य जैसे ही जन्म ग्रहण करता है, मृत्यु उसके पीछे रहती है और वह भयभीत होकर दौड़ने लगता है। परन्तु, हे प्रभो, यदि सौभाग्य से उसे आपके चरणारविन्दों की शरण मिल जाय, तब तो उसे डरने की कोई बात ही नहीं रह जाती।" प्रभु के चरण एक ऐसा स्थान है जहाँ आप परम शान्ति पा सकते हैं।

कथा आगे बढ़ती है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि कृष्ण-अवतार मानव-महिमा प्रकट करता है। भगवान नररूप में अवतरित होकर मनुष्यों को उच्च धरातल पर पहुँचा देते हैं और यदि वे अपने आप में सच्चे हैं तो देवता भी उन्हें हानि नहीं पहुँचा सकते। इसलिए कृष्ण-कथा में हम इन्द्र का वृत्तान्त पाते हैं। उन्होंने सब प्रकार के चमत्कारिक कार्य कर रहे बालकृष्ण को चुनौती देने की चेष्टा की। कृष्ण के चमत्कारिक कृत्यों से इन्द्र नाराज हो गये। उन्होंने सोचा कि मेरी अनुमति के बिना इस बालक को यह सब करने का अधिकार नहीं है। इसीलिए वे कृष्ण को सबक सिखाना चाहते थे। अन्ततः इन्द्र पराजित हुए और कृष्ण के पास आकर उन्होंने क्षमा माँगते हुए कहा – आप सचमुच महान् हैं, मैं कुछ भी नहीं हूँ।

ऐसा ही ब्रह्माजी के साथ भी होता है। उन्होंने भी इन्द्र के जैसा ही आचरण किया और उन्हें भी वैसा ही परिणाम मिला। मैं इन कथाओं का इसलिए उल्लेख कर रहा हूँ कि भागवत में भी वेदान्त की शिक्षा यानि मानव-स्वरूप महिमा आती है। मैं श्रीकृष्ण को 'भारतीय हृदय को सम्मोहित करनेवाले वंशीधर' कहता हूँ। कवियों, कलाकारों, दार्शनिकों, राजनेताओं, पुरुषों, महिलाओं, बच्चों तथा सन्तों सभी को श्रीकृष्ण आकर्षित करते हैं। भारतीय संस्कृति के सभी पक्षों पर उनका अद्भुत प्रभाव है। इसलिए हम उन्हें परम पुरुष – पूर्णावतार कहते हैं।

गोपिका गीतम्

इसके बाद १०वें स्कन्ध के उस अद्भुत 'गोपिका-गीतम्' नामक ३१वें अध्याय पर आते हैं। ९वाँ श्लोक कहता है –

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणं मंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः।। १०.३१.९

– हे प्रभो! तुम और तुम्हारी कथा हमारे सन्तप्त जीवन के लिए अमृत स्वरूप है, ज्ञानी महात्माओं द्वारा सम्मानित, समस्त पापों को मिटानेवाली, सुनने में परम मधुर, परम कल्याण एवं शान्ति प्रदायिनी श्री से युक्त तुम्हारी इस लीलाकथा का जो लोग प्रचार करते हैं, वस्तुतः वे ही श्रेष्ठ दाता हैं।

वस्तुत: यही वह महानतम कार्य है, जिसे हम कर सकते हैं। आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण का अविर्भाव हुआ। महेन्द्रनाथ गुप्त ने अपना 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ भागवत के इसी श्लोक से आरम्भ किया है। यह ग्रन्थ हमारे लिए एक अद्भुत पवित्र जीवन, असीम दया, प्रेम एवं शान्ति का निदर्शन है।

३२वें अध्याय के दूसरे श्लोक में श्रीकृष्ण का वृन्दावन में गोप-गोपियों के साथ लीला का वर्णन आता है। यहाँ हम श्रीकृष्ण के बारे में एक अनोखी बात पाते हैं – **साक्षान्मन्मथ-मन्मथ:** – मन्मथ के भी मन्मथ। मन्मथ अर्थात् कामदेव, जो सबको सांसारिक जीवन के प्रति आकर्षित करते हैं। परन्तु उल्लेखनीय यह है कि भगवान श्रीकृष्ण मन्मथ को भी अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इस प्रकार के दो पद वेदान्त में भी हैं। एक है – **मन्मथमन्मथ:** और दूसरा बृहदारण्यक उपनिषद् में है, जहाँ आत्मा को मृत्यु-की-मृत्यु कहा गया है। ऐसा क्यों? क्योकि आत्मा के समक्ष मृत्यु स्वयं ही नष्ट हो जाती है।

मानव शरीर की विलक्षणता

इसके बाद हम ११वें स्कन्ध में आते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण इस संसार से महाप्रयाण करनेवाले हैं। उनके परम मित्र एवं भक्त उद्धव कहते हैं, "हे कृष्ण, तुम हमें कुछ आध्यात्मिक उपदेश दो। प्रस्थान के पूर्व हम तुमसे यही सुनना चाहते हैं।" कृष्ण ने उद्धव को विभिन्न प्रकार के उपदेश दिये। उनमें से दो श्लोकों का मै विशेष रूप से उल्लेख करना चाहता हूँ। पहला मानव शरीर की विलक्षणता विषयक है –

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदय: पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देव:।। ११.९.२८

यह श्लोक बताता है कि ब्रह्मा ने क्रमविकास के विभिन्न चरणों में पहले आकाश और फिर प्राणियों की सृष्टि की। पर पशु, सर्प, मछली, वृक्ष आदि बनाकर उन्हें सन्तोष न हुआ। उन्होंने विचार किया कि यदि मैं इन शरीरों मे प्रवेश करूँ, तो मै स्वयं का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हो सकूँगा। तब उन्होंने मनुष्य-देह की सृष्टि की और वे इस पर बड़े प्रसन्न हुए, क्योकि इस शरीर मे वे स्वयं का साक्षात्कार कर सकते थे। यही मानव शरीर का वैशिष्ट्य है। अगला श्लोक आता है –

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीर:।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्नि:श्रेयसाय
विषय: खलु सर्वत:स्यात्।। ११.९.२१

यहाँ हमें वह बात मिलती है, जिसे जीव-वैज्ञानिक सर जूलियन हक्सले मानवीय सम्भावनाओं का विज्ञान कहते हैं। यह श्लोक बताता है कि अनेक जन्मों के बाद बड़ी कठिनाई से हमें यह मानव-देह मिला है। अत: मनुष्य-योनि बड़ी दुर्लभ है। क्रम-विकास की अनेक सीढ़ियाँ पार करके हम आये हैं। यह मनुष्य शरीर अनित्य होकर भी ठीक ठीक उपयोग किये जाने पर महान् उपलब्धियों में सक्षम है। अत: हमें इसके द्वारा मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। कहते हैं – मुक्त हो जाओ। पशु स्वतंत्र नही हैं। वे प्रकृति के अधीन हैं। परन्तु मनुष्य को अपने भाग्य के निर्माण में कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है। नि:सन्देह इसमें प्रकृति का भी योगदान रहता है, परन्तु हम प्रकृति के परे जा सकते हैं। हमारा अपना स्वरूप दिव्य है। अत: जितना शीघ्र हम मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करेंगे, उतना ही अच्छा होगा। क्यों? इसलिए कि किसी भी क्षण हमारा शरीर जा सकता है। यदि पशुओं की तरह हम भी स्वयं को विषय-भोगों में लगाए रखेंगे, तो निम्नतर पशुओं और मानव के बीच भेद ही क्या रहा? इन्द्रिय के स्तर से ऊपर उठने का प्रयास में ही मानव का वैशिष्ट्य है।

दुर्भाग्यवश, आधुनिक नर-नारियों में से अधिकांश इन्द्रियों के जीवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते। भौतिक सुख-सुविधाओं ने मानो हमें सम्मोहित कर लिया है। यदि यही रुझान जारी रहा, तो रोमन सभ्यता की भाँति सम्पूर्ण सभ्यता ही ध्वस्त हो जायेगी। इसी कारण स्वामी विवेकानन्द पाश्चात्य जगत् को सचेत करते हुए कहते हैं कि अध्यात्म को जीवन का उद्देश्य बनाये बिना उनकी सभ्यता ज्यादा दिन नहीं टिकेगी। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी हमें आदर्श नहीं प्रदान कर सकते और न वह शरीर से ही प्राप्त हो सकता है। हमारा शरीर जीनकोषों से निर्मित हुआ है, जो कि स्वभाव से स्वार्थी हैं। वे दूसरों के बारे में नहीं सोच सकते। अत: हमें इस देहासक्ति तथा इन्द्रियों के ऊपर उठना होगा और कुछ उच्च एवं स्थायी वस्तु की प्राप्ति करनी होगी। हमें स्वयं ही जानना होगा कि इन्द्रियों के परे क्या है। भारत को प्राचीन काल से ही इसका उत्तर उपनिषदों में प्राप्त है। कठोपनिषद् कहता है कि हमारे शरीर में पेशीय उर्जा है, परन्तु यह ऊर्जा अति सामान्य व स्थूल है। स्नायु-तंत्र के भीतर इससे कुछ सूक्ष्मत्तर ऊर्जा है और इससे भी भीतर स्थित मन अति सूक्ष्म तथा शक्तिशाली ऊर्जा से युक्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय ऊर्जाएँ सूक्ष्मतर, महत्तर तथा आन्तरिकता के चढ़ते हुऐ क्रम में सजी हुई हैं और इसके सर्वोच्च भूमि पर आत्मा स्थित है।

छान्दोग्य उपनिषद में कहा है – **तत् त्वम् असि** – तुम वही हो। तुम आनुवंशिक तंत्र नहीं हो। तुम असीम आत्मा हो और यही तुम्हारा सच्चा स्वरूप है। भागवत में भी इस महान् उपदेश पर बल दिया है यह हमें भक्तिमार्ग के माध्यम से शिक्षा देती है। भक्ति के द्वारा हम परम पुरुष का साक्षात्कार कर सकते हैं, पर जैसा कि पहले बताया गया है। भक्ति बहुआयामी हैं। सामान्य भक्ति भी भक्ति है, पर यह उच्चतर से उच्चतम ऊँचाइयों को छू सकती है। इसी का नाम आध्यात्मिक विकास

है। परन्तु हम प्राय: ही इस सत्य को भूल जाते हैं। पिछले हजार वर्षो से हम इस सत्य को भूल बैठे हैं। हम देखते हैं कि जो व्यक्ति वर्षो से मन्दिर जा रहा है, वह अब भी पूर्ववत् ही हैं, उसके आचार-व्यवहार में कोई सुधार नहीं आता है। ऐसे मन्दिर जाने से क्या लाभ? हमें अध्यात्मिकता को क्रियाशील बनाना होगा। हमें अपनी आध्यत्मिक चेतना को जगाकर धीरे धीरे ऊपर उठाना होगा। श्रीरामकृष्ण सबको आशीर्वाद देते थे – '**तोदेर चैतन्य होक'** – तुम सबका चैतन्य हो। भागवत में भी इस बात पर बार बार बल दिया गया है।

धर्म एवं विज्ञान विरोधाभासी नहीं हैं

भारत मे तुम भौतिक विज्ञान एवं आध्यात्मिकता में कोई विरोध नही पाओगे। श्रीमद्भागवत के ११वें स्कन्ध के इन तीन श्लोको में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है –

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्व-विचक्षणाः ।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ।। ११.७.१९

सामान्यत: लोग अपना जीवन-गठन करने में समर्थ हैं। वे ज़िस संसार मे रहते हैं उसकी प्रकृति समझ सकते हैं। यही विज्ञान है और **समुद्धरन्ति हि आत्मानम्** – स्वयं ही स्वयं को अपनी विकेक-शक्ति से निम्न अवस्था से उच्च अवस्था में ले जाता है। स्वयं ही, किसी क, ख या ग पर निर्भर रहकर नही। कोई भगवान तुम्हारी सहायता के लिए वहाँ नही बैठा हैं। यह प्रथम श्लोक मे है। दूसरा श्लोक कहता है –

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते।। ११.७.२०

मनुष्य का गुरु स्वयं उसकी आत्मा है, जबकि पशु का गुरु प्रकृति है। मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है; स्वयं अपना विकास कर सकता है। मनुष्य कैसे अपना विकास करता है? वैज्ञानिक प्रणाली के प्रत्यक्ष अनुभव तथा अनुमान के द्वारा। तथ्यों को लो, आकड़े एकत्र करो, प्रश्न करो तथा उन सब पर विवेचन करो और इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करो। इस संसार में इसी पद्धति से तुम स्वयं पर अधिकार प्राप्त कर सकते हो। तुम कह सकते हो कि तुम यह सब कर रहे हो, पर क्या यही सब कुछ है? आज बहुत-से लोग कहते हैं कि इतना ही सब कुछ हैं; पर श्रीकृष्ण कहते हैं – "नही! इससे भी ऊपर एक सीढ़ी है और वह यह कि मै दिव्य स्वरूप हूँ, मैं सबके हृदय में निवास करता हूँ, मनुष्य मेरा भी साक्षात्कार कर सकते हैं।" और अन्तिम श्लोक का कथन है – मनुष्य अपने अन्तर्निहित मुझ परमेश्वर का साक्षात्कार भी कर सकता है –

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्यायोग-विशारदाः ।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ।। ११.७.२१

अध्यात्म-विज्ञान तुम्हे तुम्हारे असीम स्वरूप का ज्ञान करा देगा। भागवत मे श्रीकृष्ण बताते हैं कि कहाँ भौतिक विज्ञान एवं धर्म का भेद समाप्त हो जाता है। पश्चिम में यह भेद सदा से रहा है। वहाँ विज्ञान तथा धर्म के संघर्ष होता था, जिसके फलस्वरूप अनेकों वैज्ञानिकों की जानें गई, परन्तु लोग इसे सामान्य घटना समझते थे। इस तरह का दृष्टिकोण पश्चिम में स्वीकृत हुआ, पर भारत में नहीं। आदिकाल में ही – हजारों वर्ष पहले हमारे देश में विज्ञान का विकास हुआ है, जब गणित, खगोलशास्त्र, चिकित्साविज्ञान, शल्यकला आदि बुलंदियों को छू रहे थे। और आज भी ये आधुनिक विज्ञान की बराबरी कर सकते हैं। परन्तु हमारी सर्वोच्च खोज थी – मनुष्य में निहित असीम आत्मा की। इसी प्रकार भागवत विज्ञान एवं आध्यात्म के बीच सामंजस्य की धारणा को व्यक्त करता है।

अन्तिम बारहवें स्कन्ध में एक अति सुन्दर श्लोक है –

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः
वेदैः सांगपदक्रमपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थितद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ।।

– वेदों ने जिनका गान किया है; ब्रह्मा वरुण, इन्द्रादि देवगण सदा जिनका गुणगान करते रहते हैं; योगीगण ध्यान में बैठकर अपने हृदय में जिनका साक्षात्कार करते हैं; कोई भी जिनकी सीमा को पा नहीं सका, उन परमेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ।

उपसंहार

पूरे भारत में लोकप्रिय भागवत वास्तव में महान् ग्रन्थ है। श्रीरामकृष्ण भी इसके बड़े प्रेमी थे। किन्तु जैसा कि मैंने कहा – हमारा सामाजिक जीवन भागवत के सन्देशों से यथेष्ट रूप से अनुप्राणित नहीं हैं। भारतवर्ष मे आध्यात्मिक शिक्षाओ की कमी नही है, पर हमारी सामाजिक व्यवस्था पूर्णत: वेदान्त, उपनिषद् व गीता का विरोधी है। आधुनिक युग में इसे ठीक करने के लिए क्या करना चाहिए? इसके लिए श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द, माँ सारदा एवं अन्य महापुरुषो का अविर्भाव हुआ है। नि:सन्देह हमारे समक्ष समस्याएँ हैं, पर इन समस्याओं का निराकरण हो सकता है, बशर्ते उच्च पदों पर आसीन लोगों में थोड़ी समझ तथा आध्यात्मिकता हो। आध्यात्म और राष्ट्र के प्रति प्रेम से चरित्र का रूपान्तर हो सकता है। किन्तु स्वार्थपरता केवल नैतिक विनाश ही ला सकती है। भारत में ऐसा हुआ कि स्वाधीनता के पूर्व लोग राष्ट्र से प्रेम करते थे, राष्ट्र के लिए सब कुछ न्योंछावर करते थे और स्वाधीनता के बाद हम अपने आप से प्रेम करने लगे। इसके फलस्वरूप भ्रष्टाचार फैला। आज हम भारत में क्या देखते है? पूर्ण भ्रष्टाचार।

पर याद रहे कि यह केवल क्षणिक स्थिति हैं, गुजरता दौर है। भविष्य में लोग सत्य को बेहतर ढंग से समझेंगे। स्वामीजी ने भविष्यवाणी की थी और मेरा भी विश्वास है कि भावी भारत प्राचीन भारत की अपेक्षा कही अधिक महान् होगा। आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए पूरा विश्व भारत की ओर देखेगा। ❖ **(समाप्त)** ❖

(अनुवादक – स्वामी निर्विकारानन्द)

सज्जनता का आदर्श

भैरवदत्त उपाध्याय

कुछ लोगों की मान्यता है कि सज्जनता सापेक्ष भाव है, जिसे दुर्जनता के सन्दर्भ में समझा जाता है। जिस प्रकार अन्धकार के तारतम्य में प्रकाश की सत्ता का बोध है, ठीक उसी प्रकार सज्जनता भी दुर्जनता के कारण ही प्रकाशित होती है, क्योंकि धूप से तपने के बाद ही जल का; कष्ट, पीड़ा तथा दुःखों के उपरान्त ही सुख की अनुभूति होती है, किन्तु ऐसी बात नहीं है, यह निरपेक्ष भाव है। दुर्जनता के अभाव में भी सज्जनता का महत्त्व है। यह सक्रिय, सकारात्मक और स्वीकृतिपरक भाव है। भाव ही नहीं क्रिया है। जीवन का आदर्श मूल्य और महत्तम प्राप्तव्य है। यह जीवन के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास की चरम परिणति है। चेतना की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। जन की सार्थकता इसी में है कि वह जीवन के उन मानदण्डों को स्थापित करने का प्रयास करें, जिनकी व्यक्ति एव समाज को आकाक्षा होती है। सज्जनता एक ऐसा दर्पण है, जिसमें समाज अपने सुन्दर रूप के प्रतिबिम्ब को देखकर मुग्ध होता है, पश्चात् अपने जीवन को तदनुरूप ढालता है। सज्जनता व्यक्ति तथा समाज के श्रेय एवं प्रेय को प्रशस्त करनेवाले उन समस्त मूल्यों का समुच्चय है, जिन्हें उनकी आकाक्षा होती है। ज्ञानी, योगी, भक्त, साधु एवं सन्त के जो लक्षण धर्मशास्त्रों में निरूपित हैं, उन्हीं से सज्जनता को समझने में सहयोग मिल सकता है।

सज्जनता सद्‌गुणों की राशि, मानवीय मूल्यों का समुच्चय और आदर्शों का एक ऐसा योग है, जो व्यक्ति में व्यक्ति के रूप में ढलता दीखता है। परिणामतः सज्जन और सज्जनता में पार्थक्य का अभाव होता है।

सज्जन आत्मसंयमी, आत्मनिग्रही, आत्मविश्वासी, शान्त और प्रसन्न होता है। आत्म-सन्तुष्ट, अनपेक्षी, कृतज्ञ परोपकारी एव समदर्शी होता है।

उसके पास धैर्य और विवेक की अक्षय पूंजी होती है। वह विनम्र, अनुशासनप्रिय, अमानी, निष्कपट, निश्छल तथा निरासक्त होता है। वह दूसरों का सम्मान करता है। छिद्रान्वेशी व परनिन्दक नहीं होता। वह कर्तव्यनिष्ठ, कर्तव्य-परायण तथा कर्मठ होता है। उसके समस्त कर्म लोकार्पित, लोक-संग्रही एवं यज्ञमय होते हैं। निर्भीकता, वीरता, अजातशत्रुता, अलोलुपता, शुचिता, सरलता, मृदुता, लज्जाशीलता, अचंचलता, दयालुता, निर्वैरता आदि गुण उसके स्वभाव के ही अंग होते हैं। वह सत्यपरायण, सत्यशोधक और सत्याग्रही होता है। वह सहिष्णु, अपरिग्रही, विचारशील, दूरदर्शी और दृढ़प्रतिज्ञ होता है। त्याग तथा अहिंसा उसके जीवन के व्रत होते हैं। आस्था, विश्वास, श्रद्धा, प्रेम एव आत्मीयता के अमृत-जल से उसका हृदय-सागर भरा होता है। वह कुण्ठाहीन, उदात्त और संवेदनशील होता है। समाज को वह सत्य एव सक्रिय नेतृत्व प्रदान करता है। जिस प्रकार से तालाब आसपास के क्षेत्र का समूचा जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार से सज्जन समस्त सद्‌गुणों को अपने भीतर समेटता है। सज्जन उस हंस के समान है, जो दुर्गुणों से भरा जल छोड़कर सद्‌गुणों से युक्त दुग्ध का पान करता है। वह परमात्मा को प्रिय होता है और उसकी पीड़ा को हरने के लिए निराकार ईश्वर साकार रूप में अवतरित होता है। सज्जन का यही स्वभाव, उसकी यही प्रकृति, उसकी विशेषता – सज्जनता है।

आज के इस घोर संकट के युग में जब दुर्जनता के दमन से सज्जनता कराह रही है, तब उसकी कोई महत्ता, उपयोगिता अथवा आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु बात ऐसी नहीं है, सज्जनता शाश्वत मूल्य है। वह मानव-समाज की सर्वदेशीय और सार्वकालिक आवश्यकता है। जब तक पृथ्वी पर मानव का अस्तित्व रहेगा, मानवकृत तथा प्राकृतिक विपदाओं से वह पूर्णतः मुक्त नहीं होगा, तब तक उसे मानवता एवं सज्जनता की आकांक्षा होगी।

सज्जनता मानव की आत्मा का धर्म है, उसका स्वभाव है। समाज का आधार है। दुर्जनता पाशविक वृत्ति है। उसका उच्छेदन क्या हमारे जन्म का उद्देश्य नहीं है? प्रकृति की महती इच्छा सज्जनता के विकास में, उसकी अभिवृद्धि की साधना में, मानव की दिव्य चेतना के उद्विकास में निहित है। सज्जनता ही हमारा परम पुरुषार्थ है, जिसे पाने में ही हमारे जीवन की सार्थकता है। ❑❑❑
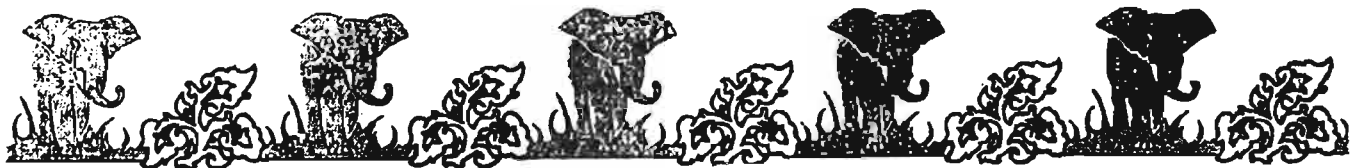
सन्त तुकाराम और उनकी वाणी

अशोक गर्ग

महाराष्ट्र प्रान्त सन्तों की जन्मस्थली कही जाती है। महाराष्ट्र में सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त एकनाथ, समर्थ स्वामी रामदास, सन्त नामदेव तथा सन्त तुकाराम का जन्म हुआ। सन्त तुकाराम तुकोबा नाम से जाने जाते थे। आपका जन्म सन् १६०८ ई. में महाराष्ट्र प्रान्त के पूना के पास देहू नामक स्थान में हुआ था। अपनी जाति के विषय में तुकाराम ने स्वयं कहा है –

जाति शूद्र वैश्य किया व्यवसाय।
पांडुरंग – पांय कुल पूज्य ।।

अर्थात् जाति का मैं शूद्र हूँ, धन्धा किया वैश्य का और उपासना की अपने कुल पूज्य देव विट्ठल की। साधकावस्था में तुकाराम ऐसा भी कहा करते थे – "जिन्हें हृदय से हरि प्यारे हैं, वे मेरी जाति के हैं।"

एक सुन्दर भजन से उनके पारिवारिक व्यवसाय का संकेत मिलता है, जिसका भावार्थ इस प्रकार है – "हे हरि, अपने चरण रूपी गहने गिरवी रखकर तुमने मुझसे भक्ति रूपी ऋण ले रखा है। जल्दी से मेरा हिसाब करके उस पर प्रेम रूपी ब्याज अदा करो। मैं प्रतिदिन कीर्तन करता हूँ, अपना धन छोड़ने वाला नही हूँ। तुम्हारे नाम से रुक्का लिखा हुआ है, जिसके आधार पर मैं तुम पर दावा ठोक सकता हूँ। तुकाराम कहते हैं कि हे गरुड़ध्वज, उस पर गुरुदेव की गवाही भी है।

वेदान्त में जिसे आत्मा कहा गया है; पुराण जिनका राम, कृष्ण, शिव आदि के रूप में वर्णन करते हैं, उन्हीं को महाराष्ट्र के वारकरी भक्तगण विट्ठल नाम से पुकारते हैं। नाम में भेद भले ही हो, परन्तु परम वस्तु एक ही है। श्रुति ने जिन्हें पाने के लिये ॐ का संकेत किया, उन्हीं को वारकरी भक्तों ने विट्ठल कहा। तुकाराम ने अपने ही अनुभव से कहा – "ज्ञानेश्वर, तथा एकनाथ ने 'ब्राह्मण-समाज' नहीं स्थापित किये; नामदेव और तुकाराम ने 'पिछड़ी जातियों के संघ' नहीं बनाये और रैदास, चोखामेला ने 'अछूतोद्धार'-मण्डल भी नहीं खड़े किये। जिसका देहाभिमान गल गया, वह वर्णाश्रम धर्म को पार कर गया। तीनों लोकों को पावन करनेवाले महात्मा जिस देश में, जिस जाति में, जिस कुल में जन्म लेते हैं; वह देश, वह कुल, वह जाति अत्यन्त पवित्र है।"

तुकाराम से पूर्व महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर महाराज जैसे अवतारी भागवत-धर्म के प्रवर्तक, नामदेव जैसे सगुण प्रेमी सन्त, चोखामेला, गोरा कुम्हार, साँवला माली जैसे भक्त; मुक्ताबाई, जनाबाई जैसी परम भक्त स्त्रियों का जन्म हो चुका था।

आयु के १७ वर्ष तक उन्होंने माता-पिता की खूब सेवा की। फिर माता-पिता स्वर्ग सिधारे। परिवार ऋणी हो गया। तुकाराम ने कहा है – "ऋण के भार से शरीर जड़ हो गया, संसार ने खूब तड़पाया।" अब लेन-देन के बखेड़े से सदा के लिये मुक्त होकर निर्विघ्न हरि-भजन में लग जाने के लिये उन्होंने सब रुक्के इन्द्रायणी नदी के दह में डाल दिये। भिक्षा माँगकर भी गुजारा किया, परन्तु धन स्पर्श कदापि न करने का निश्चय करके वे सदा-सर्वदा के लिए धन-पाश से मुक्त हो गये। उन्होंने विट्ठल मन्दिर का जीर्णोद्धार किया। वे एकादशी का व्रत भी रखते थे। उन्होंने कहा है – "गंगाजल जल नहीं है, बट-पीपल वृक्ष नहीं हैं, तुलसी और रुद्राक्ष माला नहीं हैं – ये सभी भगवान के श्रेष्ठ शरीर हैं" –

गंगा नहीं जल। वृक्ष नहीं वट पीपल ।।
तुलसी रुद्राक्ष नहीं माल। श्रेष्ठ तनु श्रीहरि की ।।

तुकाराम जी अत्यन्त उदार चरित वाले थे। आपका सम्पूर्ण जीवन परोपकार मे ही बीता। उन्होंने जो हरि कीर्तन किये और 'अभंग' (भजन) रचे, वे पहले तो श्रीहरि की प्राप्ति के लिये थे, परन्तु बाद में परोपकार के लिये हो गये। तुकाराम के जीवन का प्रति क्षण विट्ठल-भजन और परोपकार में बीता।

छत्रपति शिवाजी महाराज को उन्होंने जो साधन बताये, इसमें उनका अपना भी साधन-मार्ग दृष्टिगोचर होता है – "मैंने एक रुक्मिणी कान्त को ही चित्त में धारण कर लिया। उसी से सारा काम बन गया। भव-भ्रम दूर हो गया। पर-नारी और पर-द्रव्य विषवत् हो गये" –

सौंपा निज चित्त। उन्हें जो रुक्मिणी-कान्त ।।
पूर्ण हुआ सकल काम। निवारित भव-भ्रम ।।
पर नारि पर द्रव्य। हुए विषवत् त्याज्य ।।
तुका कहे फिर। और न लगा व्यवहार ।।

यहाँ दो बाते उन्होंने विशेष रूप से बतायीं हैं – चित्त में भगवान को बैठाया गया और परनारी तथा परधन जहर हो गये। आपने कहा है – "लौकिक व्यवहार छोड़ने का कोई काम नही, वन-वन भटकने या भस्म और दण्ड धारण करने की कोई आवश्यकता नही। कलियुग में यही उपाय है कि कीर्तन करो, इसी से नारायण दर्शन देंगे।"

लौकिक व्यवहार चलाओ अखण्ड।
न लो भस्म दण्ड बनवास ।।
कलि में धार नाम-संकीर्तन।
उससे नारायण आ मिलेंगे ।।

उन्होंने यह भी कहा है – "हे प्रभो, नर-स्तुति और कथा-विक्रय – ये दो पाप मुझसे कभी न होने देना।" महाजनी की वृत्ति होने के कारण तुकाराम जी ने बचपन से ही लिखना-

पढ़ना सीख लिया था और संस्कृत भाषा से भी उनका थोड़ा परिचय हो गया था, परन्तु वेदों का अध्ययन वे नहीं कर सके थे। उन्होंने स्वयं ही तीन बार कहा है – अक्षर देखने का मुझे अधिकार नही है। तथापि उन्होने गीता-भागवत आदि का भलीभाँति अध्यनन किया था और ज्ञानेश्वर, नामदेव, कबीर एवं एकनाथ आदि सन्तो की रचनाओं का पठन किया था। सन्त नामदेव से उन्हे स्वप्न में ऐसी प्रेरणा मिली कि उनके मुख से भजन मानो अपने आप की नि:सृत होने लगे। फिर स्वप्न में ही उन्हें गुरु का उपदेश भी मिला था। २३ जनवरी १६४० ई. को गुरुवार के दिन चैतन्य परम्परा के बाबाजी चैतन्य ने उन्हें स्वप्न में 'रामकृष्ण-हरि' मंत्र दिया था। इस घटना का वर्णन उन्होंने अपने एक भजन में किया है।

मानव-मन के विषय में तुकाराम जी का कहना है – "उत्तम गति या अधोगति देनेवाला मन ही है। मन ही सबकी माता है।" साधक, पाठक, पण्डित, श्रोता, वक्ता सबके प्रति तुकाराम हाथ उठाकर कहते हैं – "मन से बढ़कर अन्य कोई देवता नहीं, पहले इसी को प्रसन्न कर लो।" मन को प्रसन्न करना अर्थात् उसे विषय-प्रवाह से खीचकर भगवान के भजन में बाँधना है। बड़ी सावधानी के साथ मन की रखवाली करनी पड़ती है। यह जहाँ जहाँ जाता है, वहाँ वहाँ से इसे खीचकर ले आना पड़ता है। तुकाराम जी ने अपने मन के विषय में कहा है – "मन को रोकना चाहें, तो यह दुष्ट रुकता नही, मेरा मन मुझे हानि पहुँचाता है। इसके अन्तर में संसार भरा हुआ है, भक्ति केवल बाहर है, इसलिये यह अन्तर मैं आपके चरणों मे रखता हूँ। यह मन संसार की बातें ही सोचता रहता है। हे भगवन्! मेरे-तुम्हारे बीच एक बहुत बड़ी बाधा है। मैं तो भजन-पूजन करता हूँ, परन्तु मन भीतर-ही-भीतर संसार का ही ध्यान करता रहता है, वह ध्यान नहीं टूटता, यह तो मुझे भक्ति का ढोंग ही लगता है। हे नारायण! आओ, दौड़कर आओ, तुम्ही इस अन्तर में आकर इसे भरे रहो।

"एकान्त में अकेला मन एक पल भी एक स्थान में स्थिर नहीं रहता। पैरों में महत्त्व की बेड़ियाँ पड़ गयी हैं। गले में स्नेह की फाँसी लगी। देह को तो ऐसी आदत पड़ गयी है कि जो सुख देता है, वही उसे चाहिये। तुकाराम जी कहते हैं कि मैं अवगुणों की खान बना हूँ। निद्रा और आलस्य का तो पूछना ही क्या! आखिर मैंने ऐसा क्या किया कि लोग मुझे साधु मानने लगे, महात्मा कहने लगे, यह महत्त्व मुझे क्या मिला कि पैरों मे बेड़ियाँ पड़ गयी। कारण, हालत तो मेरी यह है कि स्त्री-पुत्र, घर-द्वार के ममत्व स्नेह की फाँसी मेरे गले में लगी हुयी हैं। तन का हाल यह है कि जो सुख सामने आता है, वही माँग बैठता है। जीभ ऐसी चटोरी हो गयी है कि उसे उत्तम भोजन और षड्रस भोजन चाहिये। थोड़ी देर एकान्त में बैठकर स्थिर होकर तेरा ध्यान करना चाहूँ, तो मन एक पल भी स्थिर नही रहता। प्रभो, बताओ मेरा भक्तपन और आपका भगवानपन भी कहाँ रहा। दोनो पर ही स्याही पुत गयी।"

"मुझसे अन्न छोड़ा नही जाता, वन का सेवन नहीं होता; इसलिये हे नारायण, यही कहता हूँ कि करुणा करो।" ऐसे करुण स्वर मे कि पत्थर का भी कलेजा पिघल जाय, मन को संयत करने के लिये तुकाराम नारायण के समक्ष खूब गिड़गिड़ाये, पर नारायण चुप। तुका कहते हैं – "जब तक समय न आ जाय, केवल अधीरता से कुछ नहीं होगा।" तुकाराम जी ने मन के लिये जो कुछ कहा है, उसी से यह भाव बना है कि –

मन का घोड़ा ना दिखे, सरपट दौड़ लगाय।
ये दुर्जय बलवान है, कहा तुकोबा राय।।

परमार्थ-पथ में धन, स्त्री और मान – तीन बड़ी खाइयाँ हैं। पहले इस पथ पर चलने वाले पथिक ही बहुत थोड़े हैं। जो हैं, उनमें से कुछ तो पहले पैसे की खाई में ही खो जाते हैं। कुछ दूसरी और कुछ तीसरी में, तीनों खाइयों को जो पार करते हैं, वो भगवान के कृपा पात्र होते हैं। तुका ने कहा है – "ऐसा कोई विरला ही है, तुका उसके चरणों में लोटता है" –

विरला ऐसा कोणी। तुका त्याचे लोटा गणी।।

आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण देव ने भी काम-कांचन को ही साधन-पथ की सबसे बड़ी बाधा माना है –

मदिरा सम माना इन्हें, इनसे किया विराग।
रामकृष्ण दिखला गये, कंचन-कामिनी-त्याग।।

तुकाराम जी का मन:संयम अति प्रबल था। वे पहली दो खाइयों को तो अनायास ही पार कर गये। वैराग्य की प्रथम अवस्था से ही उन्होंने धन को ईंट-पत्थर के समान तुच्छ मानने का निश्चय किया था और अपना समस्त बही-खाता इन्द्रायणी नदी में डुबाकर लेन-देन के पचड़े से मुक्त हो गये थे। छत्रपति शिवाजी महाराज ने उनके पास हीरे-जवाहरात भेजे थे, पर तुकाराम ने उनकी ओर बिना देखे ही लौटा दिया। नारी के सन्दर्भ में आपका चरित्र शुरू से ही उज्ज्वल था। अपनी स्त्री का भी जहाँ स्मरण नहीं हो, वहाँ परनारी की तो बात ही क्या? तुकारामजी ने भक्ति के बल से ही इन सब वृत्तियों को जीता। आपने कहा है कि – "जाति का हीन होने पर भी, सन्तों ने मेरी स्तुति की। इससे मुझमें गर्व घुस बैठना चाहता है, इसलिये मेरा सर्वस्व हरण करो। चित्त को ऐसा जान पड़ रहा है कि मैं ही एक ज्ञाता हूँ। हे पण्ढरीनाथ! मेरा जीवन व्यर्थ नष्ट हो रहा है, अब रक्षा कीजिए। काम-क्रोध ने कभी आसन नही छोड़ा, देह में जमे ही हुये हैं। हे पाण्डुरंग! मैंने आपके चरणों मे अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है।"

सन्त तुकाराम ने अपने दोष भी भगवान के समक्ष प्रकट किये हैं, उनका वह निवेदन आज के युग में भी प्रासंगिक है –

"तुम्हारे गुण तो गाता हूँ, पर अन्त:करण में तुम्हारा भाव नही है, केवल संसार में शोभा पाने हेतु यह ढोंग हो रहा है। पर तुम पतितपावन हो, अपनी इस बात को सच करो। मुख से मैं दास कहता हूँ, पर चित्त में माया-लोभ-आस भरी हुई है। मै जैसा वेश दिखाता हूँ, वैसा अन्दर लेश मात्र भी नहीं है। बिना सेवा किये ही दास कहता हूँ, धूर्तता से अपना पेट भरता हूँ। तोते को जो सीखाया जाता है, वही पढ़ता रहता है, मेरी भी वैसी ही दशा है। मैं पढ़े हुये शब्दो का ज्ञान बतलाता हूँ, पर उससे मुझे क्या लाभ? सन्तों से भी तुकाराम ने विनय की है – "सन्त नाम से मुझे अलंकृत मत कीजिये, मैं उसका पात्र नही हूँ; सन्त वही है, जिसे आत्मबोध हुआ हो। कृपया मेरी स्तुति मत कीजिए।" सच्चे सन्तो के लिये ही उन्होंने सन्त शब्द का प्रयोग किया था। ऐसे सन्त उनके समय में थे, उनसे समागम भी हुआ था, यथा चिन्तामणि देव। अपने अन्तिम समय में उनकी भेंट शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास से भी हुई थी।

परमात्मा का नाम उच्चारण उन्हें बहुत प्रिय था। आपने कहा है कि – "चाहे कोई दुराचारी ही क्यों न हो, परन्तु यदि वह वाणी से हरि-नाम लेता है, तो मै काय-मनो-वाक्य से उसका दास हूँ। उसके चित्त में भक्ति का कोई भाव न हो, बिना भाव के हरि-गुण गाता हो, अनाचार करता हो, पर हरि-नाम उच्चारता हो; चाहे जिस कुल में उत्पन्न हुआ हो – शुचि हो या चाण्डाल हो, पर अपने को हरि का दास कहता हो, तो तुकाराम कहते हैं कि वह धन्य है।"

गोस्वामी तुलसीदासजी की भाँति ही सन्त तुकाराम भी नाम-स्मरण को बहुत महत्त्व देते थे। आपने अपने अनुभव से बताया है कि – "नाम-स्मरण से वह चीज ज्ञात होती है, जो अज्ञात थी; वह दिखलायी देने लगता है, जो पहले नहीं दीख पड़ती थी; वह वाणी निकलती है, जो पहले मौन रहती थी; वह मिलन होता है, जो पहले चिर विरह में छिपा रहता था और यह सब अपने आप ही होने लगता है। नाम को छोड़ उद्धार का और कोई उपाय नहीं है, यह बात तुकाराम विट्ठलनाथ की शपथ लेकर कहते हैं।"

तुकाराम साकार और निराकार के बीच भेद नहीं मानते थे। भगवान अमूर्त हैं ओर मूर्त भी, भक्त ही अपने अनुभव से इस बात को जानते है। ईश्वर यदि सर्वत्र है तो मूर्ति में क्यों नही होंगे? तुकाराम जी पूछते है – "सब कुछ ब्रह्मरूप है, कोई स्थान उनसे रिक्त नही, तब प्रतिमा ईश्वर नही है – ऐसा कैसे हो सकता है?" उन्होने लिखा है – "पत्थर की प्रभु की मूर्ति है और पत्थर की पैड़ी है, पर एक को पूजते है और दूसरे पर पॉव रखते हैं। सार वस्तु भाव है, वही अनुभव में भगवान होकर प्रकट होता है।" उन्होंने सिद्ध कर दिया कि कसौटी जाति नहीं, बल्कि सत्यता, साधुता और भगवद्भक्ति है।

पूना के पास ही रामेश्वर भट्ट नाम के एक महाविद्वान् ब्राह्मण निवास करते थे। उन्होंने सुना कि तुकाराम शुद्र हैं और ब्राह्मण भी उसके पैर छूते हैं। इस पर उनके मन में बड़ी प्रतिकूल धारणा हुई। वे सोचने लगे कि यह व्यक्ति भागवत धर्म तथा वर्णाश्रम धर्म को मिटाने पर तुला हुआ है। रामेश्वर भट्ट ने देहू ग्राम के अधिकारी को यह बात बतायी और तुकाराम जी को गाँव से बाहर निकलवा दिया।

इसके बाद तुकाराम जी तेरह दिनों तक अन्न-जल छोड़कर, प्राणो की चिन्ता से रहित परम उत्कण्ठापूर्वक प्रभु से मिलन की प्रतीक्षा करने लगे। भगवान उनके सामने सगुण साकार रूप मे प्रगट हुए। रामेश्वर भट्ट भी उनके शरणागत हो गये।

प्रभु से मिलन के आनन्द का वर्णन उनके कई अभंगों में है – "तुम्हारे चरण देखे, अब मन कहाँ दौड़कर जायेगा, सारी थकान दूर हो गयी; अब तो केवल आनन्द-ही-आनन्द है।"

देहू, लोहगॉव, तेलगाँव, पूना, पण्ढरपुर के मार्ग के सभी स्थानों में तुकाराम जी के कीर्तनों की झड़ी लग गयी। सहज ही लोग उन्हें गुरु के रूप में पूजने लगे। गुरु होने की पूर्ण योग्यता होने पर भी उन्होंने गुरुपने को अपने पास फटकने नहीं दिया, किसी को अपना शिष्य भी नहीं कहा। उन्होंने जो उपदेश दिये हैं, उन्हें उपदेश न कहकर 'मेघवृष्टि' कहा है। सन्त की दृष्टि में 'मेघवृष्टि' का अभिप्राय यह था कि – मेघ इस बात का विचार नहीं करते कि जल बरसकर खेती के काम आयेगा या नालियों से होकर बह जायेगा। उनकी तो सब पर समदृष्टि होती है। 'पतितपावनी गंगा' पतित और पावन दोनों को ही समान भाव से अवगाहन कराती है। उन्होंने कहा – उपदेश मेघों के समान बरसते हैं –

मेघ वृष्टि ने करावा उपदेश।

तुकाराम जी ने क्षणिक सुखों को त्यागकर अविनाशी सुख लाभ किया। तुकाराम के नेत्र जो कुछ देखते थे, कान जो कुछ सुनते थे, मन जो कुछ मानता था, वाणी जो कुछ बोलती थी, चित्त जो कुछ चिन्तन करता था, अन्दर-बाहर जो कुछ भाव-भगत, वह सब विट्ठलमय था, इस कारण महाप्रयाण के समय श्री विट्ठल सिवा उनके लिये और कोई गति ही नही थी। उनका मन दिव्य बैकुण्ठ धाम जाने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठा से फड़फड़ा रहा था। तुकाराम अन्तर्धान हो गये, उनका शरीर फिर किसी ने नही देखा। वे अदृश्य होकर अदृश्य में मिल गये। तुकाराम जी के पुत्र नारायण ने लिखा है कि – "तुकोबा राय कीर्तन करते-करते अदृश्य हो गये।" यह घटना सन् १६५० ई. की है। ❖❖❖

कनखल सेवाश्रम

स्वामी विवेकानन्द के आदेशानुसार उनके कुछ शिष्यों ने उत्तराखण्ड के रुग्ण सन्यासियों की सेवा हेतु कनखल में एक सेवाश्रम की स्थापना की थी। विगत ६ जून को उसके शताब्दी मनाने हेतु विभिन्न सम्प्रदायों के अनेक सन्यासी, ब्रह्मचारी, उच्च पदाधिकारी तथा जन-साधारण सेवाश्रम के परिसर में समवेत हुए थे। समारोह का उद्घाटन करते हुए उत्तरांचल के राज्यपाल श्री सुरजीत सिंह बरनाला ने सभा को सम्बोधित किया।

आसाम में स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द की आसाम-यात्रा के सौ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में कामाख्या के सुप्रसिद्ध मन्दिर में इस ऐतिहासिक घटना का द्योतक एक शिलालेख लगाया गया है। विगत २९ जुलाई को इसका अनावरण रामकृष्ण सघ के सहाध्यक्ष स्वामी आत्मस्थानन्द जी ने किया। इस अवसर पर आयोजित सभा को सम्बोधित करते हुए महाराज ने असमिया भाषा में 'विवेकानन्द-चित्रकथा' नामक एक पुस्तक का विमोचन भी किया।

चेन्नै में युवा-शिविर

तमिलनाडु के चेन्नै रामकृष्ण मठ में पिछले मई माह में ८ से १५ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं के लिए पूरे एक माह का एक शिविर आयोजित किया गया था। इसमें लगभग ५०० बच्चों ने भाग लिया और उन्हें योगासन, स्तोत्रपाठ, भजन, शिल्प-कला, नैतिक रीति-रिवाजों का पालन की शिक्षा दी गयी।

कुष्ठ-निवारण

पश्चिमी बंगाल की सरकार के अनुरोध पर हमारे इछापुर तथा कामारपुकुर केन्द्रों द्वारा पूरे आरामबाग उप-सम्भाग में कुष्ठ-निवारण का कार्यक्रम आरम्भ किया गया है। चिकित्सकीय तथा अन्य कर्मियों के लिए प्रारंभिक प्रशिक्षण शिविर २० जुलाई को इछापुर में लगाया गया।

सींथी का उद्यान-भवन

उत्तरी कलकत्ते के सींथी में स्थित श्रीरामकृष्ण के लीला द्वारा पूत श्री वेणीपाल का उद्यान-भवन बेलूड़ मठ को दान-स्वरूप प्राप्त हुआ है। विगत ४ जुलाई को रामकृष्ण के सहाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी आत्मास्थानन्द जी महाराज ने वहाँ एक श्रीरामकृष्ण-स्मृति भवन की आधारशिला रखी। इस अवसर पर आयोजित सभा में बहुत बड़ी संख्या में संन्यासियों तथा भक्तों ने भाग लिया। सभा को श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्द जी, महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी तथा 'पश्चिम बंगाल मानव-अधिकार समिति' के अध्यक्ष श्री मुकुल गोपाल मुखोपाध्याय ने सम्बोधित किया।

गुजरात में पुनर्वास

गुजरात में भूकम्प पीड़ितों के पुनर्वास हेतु **बेलूड़ मठ** ने अपने सुरेन्द्रनगर के शिविर के माध्यम से छह विद्यालयों के निर्माण की योजना बनाई है। गुजरात के मुख्यमत्री श्री केशूभाई पटेल द्वारा शिलान्यास के अवसर पर अनेक संन्यासी, विशिष्ट नागरिक, शिक्षक, छात्र-छात्राएँ तथा स्थानीय जनता उपस्थित थी।

लिमड़ी आश्रम के माध्यम से ४ तालाबों के उत्खनन का कार्य पूरा हो चुका है। 'अपना मकान स्वयं बनाओ' परियोजना के तहत १०० परिवारों को लाभ पहुँचाया जा चुका है और ६ विद्यालयों के निर्माण का कार्य प्रगति पर है।

पोरबन्दर आश्रम के तत्त्वावधान में भारवाड़ा ग्राम के २८ मकानों के मलबे की सफाई का कार्य पूरा हुआ और ६ मकानों का निर्माण-कार्य प्लिंथ (कुर्सी) की ऊँचाई तक आ पहुँचा है। उक्त आश्रम द्वारा खोयाना तथा महिरा ग्राम में निर्मित सरकारी प्राथमिक विद्यालय का उद्घाटन पिछले ३० जून को गुजरात के युवा तथा संस्कृति राज्यमंत्री महेन्द्रभाई त्रिवेदी तथा कानून-मत्री बाबूभाई बखीरिया के द्वारा सम्पन्न हुआ।

राजकोट आश्रम के माध्यम से धनेटी ग्राम में निर्मित हो रहे १०१ मकानों का कार्य द्रुत वेग से अग्रसर हो रहा है।

चिकित्सा शिविर

गौहाटी आश्रम (आसाम) ने अम्बुवाची मेले के अवसर पर विगत २२ से २६ जून तक कामाख्या देवी के मन्दिर के चबूतरे पर एक निःशुल्क चिकित्सा-शिविर का आयोजन किया। इसके माध्यम से २२५४ रोगियों की सेवा की गयी।